अंक संख्या 02
वर्ष 01

अगस्त 2026

मार्गदर्शनम्
पत्रिका
ज्ञान • संस्कृति • मूल्य • समाज

मार्गदर्शनम्
पत्रिका

शिक्षा से संस्कार • संस्कार से समाज • समाज से राष्ट्र

15 अगस्त
स्वतंत्रता दिवस
की हार्दिक शुभकामनाएं

इस अंक में

शिक्षा विमर्श
नई शिक्षा नीति और भारतीय दृष्टि

संस्कृति सरिता
भारतीय संस्कृति की कालजयी धारा

प्रेरक प्रसंग
महापुरुषों के जीवन से सीखने योग्य बातें

समाज और सरोकार
समाज निर्माण में हमारी भूमिका

ज्ञान विज्ञान
विज्ञान, तकनीक और नवाचार की दुनिया

रक्षाबन्धन
की हार्दिक शुभकामनाएँ

वन्दे मातरम्

समग्र दृष्टि | भारतीय चिंतन | सार्थक समाज | उज्ज्वल भविष्य

मार्गदर्शनम्

श्रावणमास

विक्रम संवत् २०८३

शक संवत् १९४८, ईस्वीयसंवत् अगस्त २०२६

प्रधान संपादक
डॉ. वेदप्रकाश मिश्र

संपादक मण्डल
पिंकी उपाध्याय
डॉ. आलोक कुमार पाण्डेय
विष्णु प्रसाद द्विवेदी
लक्ष्मीकान्त अवस्थी

परामर्श समिति
प्रो. प्रमोद कुमार दुबे
प्रो. हरिशंकर पांडेय
प्रो. जतींद्र मोहन मिश्र
डॉ. सरित् शर्मा
डॉ. कुन्दन कुमार

प्रकाशक
मार्गदर्शनम् शिक्षा सेवा ट्रस्ट

मुद्रक
सारस्वतम् पब्लिकेशन

संपादन एवं प्रकाशन पूर्णतः अवैतनिक

महत्त्वपूर्ण सूचना

- मार्गदर्शनम् पत्रिका में प्रकाशित लेखों, शोधपत्रों, टिप्पणियों एवं अन्य रचनाओं में व्यक्त विचार पूर्णतः सम्बन्धित लेखक/रचनाकार के निजी हैं। उनसे सम्पादक, सम्पादकीय मण्डल अथवा प्रकाशक का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।
- मार्गदर्शनम् पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी प्रकार के विवाद, वाद अथवा न्यायिक प्रकरण के निस्तारण हेतु वाराणसी का न्यायालय ही क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) रखेगा।
- मार्गदर्शनम् पत्रिका के सम्पादक, परामर्श-परीक्षक मण्डल तथा सम्पादकीय मण्डल के सभी सदस्य पूर्णतः अवैतनिक एवं मानद रूप से अपनी सेवाएँ प्रदान करते हैं।
- मार्गदर्शनम् पत्रिका में प्रकाशित प्रत्येक रचना की मौलिकता, तथ्यपरकता, उद्धरणों तथा कॉपीराइट सम्बन्धी समस्त उत्तरदायित्व सम्बन्धित लेखक का होगा। इन विषयों के लिए प्रकाशक, सम्पादक अथवा सम्पादकीय मण्डल उत्तरदायी नहीं होगा।

इस अंक में

संपादकीय		*3*
बिना राम के राष्ट्र नहीं	*प्रोफेसर प्रमोद कुमार दुबे*	4
आदर्श धर्म और संस्कृति का महाकाव्य	*डॉ. ज्ञानप्रकाश मिश्र*	6
आत्मसमर्पण से अनन्त मिलन की यात्रा है प्रेम-भक्ति	*प्रोफेसर हरिशंकर पाण्डेय*	8
शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा	*डॉ. चेतन वेदिया*	10
धन का वैदिक दर्शन	*स्वामी डॉ. निर्मल दास*	12
स्वतन्त्रता की शास्त्रीय अवधारणा	*डॉ. वेदप्रकाशमिश्र*	14
भारतीय भाषाओं सह संस्कृत अध्ययन की प्रासंगिकता	*डॉ. सुरेश कुमार शर्मा*	17
अद्वैत वेदान्त दर्शन में विविध समाधान	*डॉ. प्रांगेश कुमार मिश्र*	19
चेतना-विज्ञान की आध्यात्मिक परम्परा	*डॉ. कुन्दन कुमार*	21
विवाह संस्कार	*आशुतोष मणि त्रिपाठी*	23
मिथिला की ज्ञानपरम्परा वाहिका : भारती और भामती	*डॉ. आभा झा*	26
नारी-चेतना की प्रतीक लोपामुद्रा	*अमिता तिवारी*	28
देउर कोठार: विंध्याञ्चल में छिपी भारतीय बौद्ध धरोहर	*सुलभा मिश्रा*	30
शिवत्व का साधक है श्रावणमास	*आचार्य राजबहोर मिश्र (शास्त्री जी)*	32
रोगनिदान में ज्योतिषीय संकेत एवं योग की भूमिका	*डॉ. सरित् शर्मा*	34
जीवन में जन्मकुंडली की प्रासंगिकता	*आचार्या दीप्ति चतुर्वेदी*	37
मुक्तिधाम गयातीर्थ	*डॉ. आलोक कुमार पाण्डेय*	40
गंगा ने सात पुत्रों का त्याग क्यों किया?	*श्रीमती सरोज गुलाटी*	42
प्रश्नोत्तरमाला	*शशिपाल शर्मा 'बालमित्र'*	43
सह-अस्तित्व का सांस्कृतिक पर्व नागपञ्चमी	*पिंकी उपाध्याय*	45
त्यागपूर्ण कर्म और श्रेय की प्रेरणा ईशावास्योपनिषद्	*डॉ. अजय कुमार भारद्वाज*	48
अटल निष्ठा का सामर्थ्य	*स्वामी रामानुज दास*	50
विकसित भारत का भविष्य Gen-Z : नई पीढ़ी	*संदीप तिवारी 'कृपके'*	51
सिनेमा से सोशल मीडिया तक : हमारी सामाजिक संस्कृति	*विष्णु प्रसाद द्विवेदी*	54

सम्पादकीयम्

प्रिय सुधि पाठकवृन्द !

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

'मार्गदर्शनम्' के इस अगस्त अंक को आपके करकमलों में समर्पित करते हुए हमें विशेष प्रसन्नता हो रही है। यह अंक हमारे लिए केवल विविध विषयों का संकलन नहीं, अपितु भारतीय ज्ञानपरम्परा की बहुआयामी चेतना को समकालीन जीवन के प्रश्नों से जोड़ने का एक विनम्र प्रयास है। इस अंक की सामग्री को यदि एक सूत्र में बाँधा जाए तो वह सूत्र ज्ञान, स्वतन्त्रता, आत्मसंयम, उत्तरदायित्व और इतहास बोध का सूत्र होगा।

भारतीय चिन्तन में ज्ञान का उद्देश्य मनुष्य के भीतर निहित विवेक, कर्तृत्व और उत्तरदायित्व का बोध कराना रहा है। इसीलिए भारतीय परम्परा ने विद्या को केवल जीविकोपार्जन का साधन न मानकर मुक्ति और आत्मोन्नति का माध्यम माना है। इसी व्यापक दृष्टि को केन्द्र में रखकर इस अंक की विषय-वस्तु परम्परा और आधुनिकता, अध्यात्म और विज्ञान, शास्त्र और व्यवहार तथा संस्कृति और समकालीन जीवन के मध्य संवाद स्थापित करती है।

अगस्त का महीना भारतीय मानस में स्वतन्त्रता की स्मृति और राष्ट्रीय चेतना को विशेष रूप से जागृत करता है। किन्तु क्या स्वतन्त्रता केवल राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति का नाम है? इस अंक का आलेख 'स्वतन्त्रता की शास्त्रीय अवधारणा' इसी प्रश्न को भारतीय शास्त्रीय परम्परा के आलोक में विचार करता है। इसमें 'स्वतन्त्र' शब्द के कोशीय, धर्मशास्त्रीय, व्यवहारिक और पाणिनीय प्रयोगों के माध्यम से यह प्रतिपादित किया गया है।

हमारा राष्ट्रीय जीवन भी ऐसी स्वतन्त्रता की अपेक्षा करता है जो अधिकार के साथ कर्तव्य और स्वाधीनता के साथ उत्तरदायित्व को स्वीकार करे।

इसी उत्तरदायित्व-बोध का दूसरा आयाम इस अंक में 'धन का वैदिक दर्शन' के माध्यम से सामने आता है। वैदिक दृष्टि में धन केवल निजी उपभोग का साधन नहीं है, अपितु दान, सेवा और लोकमंगल का माध्यम है। ऋग्वैदिक मन्त्र धन को रथ के चक्र के समान गतिशील बताते हुए उसके परस्पर प्रवाह और सदुपयोग की प्रेरणा देता है। आज के उपभोक्तावादी परिवेश में यह दृष्टि विशेष रूप से प्रासंगिक है।

अंक में प्रस्तुत अद्वैत वेदान्त सम्बन्धी विमर्श आधुनिक मनुष्य की अनेक ज्वलन्त समस्याओं से संवाद करता है। मानसिक अशान्ति, सामाजिक विखण्डन, पर्यावरणीय संकट, आत्मविश्वास की कमी और वैश्विक असहिष्णुता जैसी समस्याओं के बीच अद्वैत मनुष्य को बाह्य विविधता में अन्तर्निहित एकता का बोध कराता है।

भारतीय आध्यात्मिक परम्परा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण धारा इस अंक में तन्त्र एवं मन्त्रयोग के माध्यम से प्रस्तुत हुई है। तन्त्र को केवल रहस्यमय अथवा चमत्कारपरक साधना मानने के स्थान पर इसे चेतना के परिष्कार, आत्मशुद्धि और अभ्युदय-निःश्रेयस के समन्वित मार्ग के रूप में समझने का प्रयास किया गया है।

इस अंक में देउर कोठार की बौद्ध पुरातात्त्विक धरोहर का परिचय भारतीय इतिहास को एक नई दृष्टि से देखने का अवसर प्रदान करता है। विंध्य क्षेत्र में स्थित यह स्थल स्तूपों, विहारों, शिलालेखों, स्तम्भों और स्थापत्य अवशेषों के माध्यम से भारतीय बौद्ध सांस्कृतिक इतिहास के महत्त्वपूर्ण अध्याय को सामने लाता है।

अंक में 'मिथिला की ज्ञानपरम्परा वाहिका : भारती और भामती' विषय भी विशेष उल्लेखनीय हैं।

यह विमर्श हमें स्मरण कराता है कि भारतीय ज्ञानपरम्परा का इतिहास केवल पुरुष आचार्यों की उपलब्धियों का इतिहास नहीं है। गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, घोषा, अपाला से लेकर भारती और भामती तक स्त्रियों ने भारतीय बौद्धिक और सांस्कृतिक चेतना को विविध रूपों में समृद्ध किया है।

इस अंक में भारतीय भाषाओं के साथ संस्कृत के समन्वित अध्ययन की आवश्यकता पर प्रस्तुत विचार आज की शिक्षा-व्यवस्था के लिए विशेष महत्त्व रखते हैं। संस्कृत को केवल एक परीक्षा-विषय के रूप में देखने के स्थान पर उसे भारतीय ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, साहित्य और सांस्कृतिक चेतना की संवाहिका के रूप में समझने की आवश्यकता है।

अंक का आध्यात्मिक पक्ष 'शिवत्व का साधक है श्रावणमास' के माध्यम से पूर्णता प्राप्त करता है। श्रावण केवल शिवालयों में जलाभिषेक, रुद्राभिषेक और व्रत-उपवास का अवसर नहीं है, अपितु अन्तःकरण के परिष्कार और जीवन में शिवत्व के जागरण का भी पर्व है।

हमारा विश्वास है कि आज सूचना के विस्फोट के बीच जिस चीज की सर्वाधिक आवश्यकता है, वह है विवेकपूर्ण ज्ञान; अधिकारों के विस्तार के मध्य उत्तरदायित्व बोध; भौतिक समृद्धि के साथ लोकमंगल; वैज्ञानिक प्रगति के साथ मानवीय संवेदना; और सांस्कृतिक स्मृति के साथ जीवन्त पुनःसर्जना।

इसी भावना के साथ हम अपने सुधी पाठकों से अपेक्षा करते हैं कि वे इस अंक को केवल पढ़ने के साथ-साथ इसके विचारों से संवाद भी करें; प्रश्न उठाएँ, विचार करें, अपने अनुभव साझा करें और भारतीय ज्ञानपरम्परा को आधुनिक जीवन की चुनौतियों के समाधान से जोड़ने के इस बौद्धिक अभियान में सहभागी बनें।

"तेजस्विनावधीतमस्तु" की मंगलकामना के साथ...

बिना राम के राष्ट्र नहीं

प्रोफेसर प्रमोद कुमार दुबे
शिक्षाविद्, लेखक एवं साहित्यकार

"जहाँ राजा राम नहीं होते, वहाँ राष्ट्र नहीं होता; जहाँ श्रीराम रहते हैं, वह वन भी राष्ट्र हो जाता है" आदिकवि वाल्मीकि का यह कथन भारतीय राष्ट्रचिन्तन की गहन अवधारणा को उद्घाटित करता है—

न हि तद् भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥

वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड

यहाँ 'राष्ट्र' केवल भूमि, सीमा अथवा शासन-व्यवस्था का नाम नहीं है। राष्ट्र के पीछे एक जीवंत सांस्कृतिक चेतना, जीवन-मूल्य और लोकमंगल की भावना विद्यमान रहती है। वाल्मीकि के लिए राम उसी राष्ट्रचेतना के मूर्त स्वरूप हैं। इसीलिए राम जहाँ हैं, वहाँ वन भी राष्ट्र का स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

भारतीय दृष्टि में राष्ट्र केवल भौगोलिक इकाई नहीं है। भूमि के साथ जब जनसमुदाय का आत्मीय सम्बन्ध, समान सांस्कृतिक चेतना, जीवन-दृष्टि और किसी महान् आदर्श के प्रति समर्पण जुड़ता है, तब राष्ट्र का निर्माण होता है। पं. दीनदयाल उपाध्याय ने इसी अन्तर्निहित चेतना को राष्ट्र की 'चिति' कहा। उनके अनुसार राष्ट्र किसी ऐतिहासिक संयोग से निर्मित कृत्रिम संगठन मात्र नहीं, बल्कि एक जीवंत सांस्कृतिक सत्ता है। राष्ट्र के जीवन में दिखाई देने वाली समानताएँ उसकी अन्तर्निहित चेतना की अभिव्यक्तियाँ हैं। भारतीय परम्परा में यही राष्ट्रचेतना व्यक्ति से समाज और समाज से समष्टि तक विकसित होती है। व्यक्ति, समाज, राज्य और राष्ट्र इ नमें अन्तर्विरोध नहीं, बल्कि परस्पर पूरक सम्बन्ध है।

वेदों में राष्ट्र के प्रति जागरूकता अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक राज्याभिषेक की परम्परा में राजा राष्ट्र को अपनी निजी सम्पत्ति नहीं मानता, बल्कि राष्ट्र की सेवा और रक्षा का दायित्व स्वीकार करता है। वाजसनेयी संहिता में आता है राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा। अर्थात् मुझे राष्ट्र प्रदान करो; मैं उसके योग्य बनूँ और उसके दायित्व का निर्वहन करूँ।

यह भावना आधुनिक राजनीति के केवल सत्ता-प्राप्ति के दृष्टिकोण से भिन्न है। यहाँ राज्याधिकार के साथ उत्तरदायित्व जुड़ा है। राजा का पद अधिकार से अधिक कर्तव्य है। इसी भाव को कौटिल्य के सूत्र में देखा जा सकता है—

सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः।
अर्थस्य मूलं राज्यम्। राज्यमूलमिन्द्रियजयः॥

अर्थात् सुख का मूल धर्म है, धर्म का मूल अर्थ और अर्थ का मूल राज्य है; परन्तु राज्य का मूल शासक का आत्मसंयम है। अतः भारतीय राजदर्शन में श्रेष्ठ राज्य की पहली शर्त श्रेष्ठ शासक है और श्रेष्ठ शासक की पहली शर्त उसका संयम एवं धर्मनिष्ठा है। श्रीराम की महत्ता केवल इसलिए नहीं है कि वे अयोध्या के राजा बने। उनका महत्व इसलिए है कि उन्होंने राजसत्ता को धर्मसत्ता के अधीन रखा। वाल्मीकि ने राम के चरित्र को एक वाक्य में अभिव्यक्त किया है—

रामो विग्रहवान् धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानामिव वासवः॥

अर्थात् राम धर्म के साक्षात् विग्रह हैं; सत्य उनका पराक्रम है और वे समस्त लोक के राजा हैं। यही राम का राष्ट्र-दर्शन है सत्ता के केन्द्र में व्यक्ति नहीं, धर्म और लोकमंगल होना चाहिए। राम ने राजसिंहासन की अपेक्षा पिता के सत्य को चुना। वनवास में भी उन्होंने राजधर्म नहीं छोड़ा। निषादराज से लेकर वनवासी समुदायों तक उनका सम्बन्ध सत्ता के अहंकार से नहीं, आत्मीयता से बना। ऋषियों की रक्षा, समाज की सुरक्षा और अधर्म का प्रतिरोध इन सभी में राम का राष्ट्रधर्म दिखाई देता है। इसलिए राम के लिए अयोध्या केवल राजधानी नहीं थी और वन केवल निर्वासन का स्थान नहीं। जहाँ लोकमंगल, मर्यादा, न्याय और धर्म की प्रतिष्ठा है, वहीं राम का राष्ट्र है।

रामराज्य को केवल राजनीतिक व्यवस्था के रूप में देखना उसके व्यापक अर्थ को सीमित करना होगा। रामराज्य वह स्थिति है जिसमें शासन का उद्देश्य प्रजा का कल्याण, न्याय

की प्रतिष्ठा और धर्म की रक्षा हो। राम स्वयं धर्म के विग्रह हैं। इसलिए रामराज्य का मूल सूत्र है धर्माधिष्ठित शासन, उत्तरदायी नेतृत्व और लोकमंगल। राम के व्यक्तित्व में व्यक्ति और राष्ट्र, राजा और प्रजा, अधिकार और कर्तव्य तथा शक्ति और मर्यादा का अद्‌भुत समन्वय दिखाई देता है।

भारतीय परम्परा में विष्णु विश्वव्यापी संरक्षण-शक्ति के प्रतीक हैं। श्रीराम उसी मर्यादा और संरक्षण-चेतना के मानवीय आदर्श रूप में दिखाई देते हैं। उनका जीवन यह सिखाता है कि राष्ट्र की शक्ति केवल अस्त्र-शस्त्र या धन में नहीं, बल्कि चरित्र, संगठन, धर्म और लोकविश्वास में निहित होती है।

आज राष्ट्र की चर्चा प्राय: सीमा, अर्थव्यवस्था, राजनीति और सत्ता के सन्दर्भ में होती है। ये सभी राष्ट्र के आवश्यक अंग हैं, किन्तु भारतीय दृष्टि इससे आगे जाती है। राष्ट्र का प्राण उसके नागरिकों की चेतना में है।

यदि नागरिक अपने कर्तव्य से विमुख हो जाएँ, नेतृत्व स्वार्थग्रस्त हो जाए और सार्वजनिक जीवन से सत्य, संयम तथा धर्म का लोप हो जाए, तो विशाल भौगोलिक क्षेत्र भी राष्ट्र की आत्मा को सुरक्षित नहीं रख सकता। इसके विपरीत जहाँ सत्य, सेवा, त्याग, न्याय और लोकमंगल की चेतना जीवित हो, वहाँ सीमित साधनों में भी राष्ट्र का गौरव सुरक्षित रह सकता है। इसीलिए वाल्मीकि का कथन आज भी प्रासंगिक है—

न हि तद् भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः।
तद् वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥

यह केवल राम के राज्याभिषेक की कथा नहीं, बल्कि राष्ट्र के नैतिक नेतृत्व का शाश्वत सूत्र है।

राम का राष्ट्र वह राष्ट्र है जहाँ शासन धर्म से संचालित हो, शक्ति मर्यादा से बँधी हो, समृद्धि लोकमंगल के लिए हो और नागरिकों के हृदय में राष्ट्र के प्रति आत्मीयता हो। अत: आज आवश्यकता केवल राम का नाम लेने की नहीं, राम के राष्ट्रधर्म को जीवन और लोकव्यवस्था में उतारने की है। राम राष्ट्र के केवल राजा नहीं राष्ट्रधर्म के आदर्श हैं।

mdpatrika4@gmail.com

आदर्श धर्म और संस्कृति का महाकाव्य

डॉ. ज्ञानप्रकाश मिश्र
व्याकरणाचार्य

गोस्वामी तुलसीदास विरचित श्रीरामचरितमानस हिन्दी साहित्य का एक अनुपम रत्न तथा भारतीय संस्कृति का जीवंत दर्पण है। मानस केवल एक धार्मिक ग्रन्थ नहीं है, अपितु मानव-जीवन के आदर्शों, नैतिक मूल्यों, कर्तव्यपरायणता, भक्ति, प्रेम, त्याग, मर्यादा और लोकमंगल की महान् शिक्षा प्रदान करने वाला एक कालजयी महाकाव्य है। मुख्यत: अवधी भाषा में विरचित यह ग्रन्थ जनसामान्य के हृदय में उसी श्रद्धा और विश्वास के साथ प्रतिष्ठित है, जिस श्रद्धा से वेद, उपनिषद् और पुराण भारतीय जीवन-परम्परा में प्रतिष्ठित हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने भगवान् श्रीराम के चरित्र के माध्यम से मानव-जीवन को धर्म, नीति, कर्तव्य और मर्यादा के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी है। इसीलिए लोकमानस में यह भाव अत्यन्त प्रसिद्ध है "हमें निज धर्म पर चलना सिखाती रोज रामायण।" श्रीरामचरितमानस की रचना-भूमि और उसके उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए गोस्वामी तुलसीदास मंगलाचरण में कहते हैं—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त:सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

अर्थात् अनेक पुराणों, वेदों तथा आगम-शास्त्रों में सम्मत भगवान् श्रीराम की जिस पावन कथा का वर्णन वाल्मीकि रामायण में किया गया है और जो कहीं-कहीं अन्य ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है, उसी रघुनाथ-कथा को तुलसीदास अपने अन्त:करण के सुख के लिए अत्यन्त मधुर, मनोरम और लोकग्राह्य भाषा में निबद्ध कर रहे हैं।

साहित्यिक दृष्टि से विचार करें तो इस एक श्लोक में श्रीरामचरितमानस की रचना-परम्परा, आधार और उद्देश्य के अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत समाहित हैं। "नानापुराणनिगमागमसम्मतम्" पद के माध्यम से तुलसीदास जी इस कथा की प्रामाणिक परम्परा की ओर संकेत करते हैं। वे स्पष्ट करते हैं कि रामकथा का आधार केवल एक ग्रन्थ नहीं, अपितु वेद, पुराण, आगम तथा विविध शास्त्रीय परम्पराएँ हैं। "रामायणे निगदितम्" के द्वारा वाल्मीकि रामायण को रामकथा के प्रमुख आधार के रूप में स्वीकार किया गया है। वहीं "स्वान्त:सुखाय" पद रचना के एक आत्मिक एवं भावात्मक उद्देश्य को उद्घाटित करता है—अर्थात् कवि अपने अन्त:करण के आनन्द के लिए प्रभु श्रीराम की कथा का गान कर रहे हैं।

इसी प्रकार "भाषानिबन्धमतिमञ्जुलम्" पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि तुलसीदास ने रामकथा को संस्कृत की शास्त्रीय परम्परा तक सीमित न रखकर लोक में प्रचलित मधुर भाषा में अत्यन्त सरस और मनोहर रूप प्रदान किया। इस प्रकार एक ही श्लोक में रामचरितमानस की प्रामाणिकता, परम्परा, रचनात्मक उद्देश्य और लोकाभिमुखता इन सभी का अत्यन्त सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। इस दृष्टि से यह श्लोक केवल मानस की रचना-भूमिका का परिचायक नहीं है, अपितु उसकी साहित्यिक चेतना और लोकमंगलकारी अभिप्रेरणा का भी सशक्त उद्घोष है। तुलसीदास ने शास्त्र और लोक, संस्कृत की परम्परा और जनभाषा, आध्यात्मिकता और जीवन-व्यवहार इन सभी के बीच एक ऐसा सेतु निर्मित किया, जिसने रामकथा को जन-जन के हृदय तक पहुँचा दिया।

श्रीरामचरितमानस में रामनाम तथा रामकथा की महिमा का बार-बार गुणगान किया गया है। तुलसीदास कहते हैं कलियुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि नर उतरहिं पारा॥ राम कथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनिहारी॥ अर्थात् कलियुग में भगवान् के नाम का स्मरण ही मनुष्य के लिए सबसे बड़ा आधार है। श्रीराम की कथा अत्यन्त सुन्दर, कल्याणकारी और जीवन को दिशा प्रदान करने वाली है। यह मनुष्य के अन्त:करण में उत्पन्न होने वाले संशय रूपी पक्षी को उड़ा देती है। दूसरे शब्दों में, रामकथा के श्रवण, मनन और अनुशीलन से मन के भ्रम, द्वन्द्व

और संदेह क्रमशः दूर होते हैं तथा श्रद्धा, आत्मविश्वास और जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टि का उदय होता है।

रामकथा का महत्त्व केवल धार्मिक आस्था तक सीमित नहीं है। वह मनुष्य के भीतर जीवन-मूल्यों का संस्कार करती है। श्रीराम का चरित्र हमें यह सिखाता है कि परिस्थितियाँ चाहे कितनी ही विषम क्यों न हों, मनुष्य को धर्म, सत्य, कर्तव्य और मर्यादा का मार्ग नहीं छोड़ना चाहिए।

श्रीराम के चरित्र का सबसे प्रमुख वैशिष्ट्य उनकी मर्यादा है। उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने कर्तव्य को सर्वोपरि रखा। उनके जीवन की यही विशेषता उन्हें केवल एक आदर्श राजा नहीं, अपितु आदर्श पुत्र, आदर्श भ्राता, आदर्श पति और आदर्श मानव के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इसी भाव को इन पंक्तियों में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त किया गया है—

मर्यादा को जिया उम्र भर, काम किया निष्काम बने,
नाश अधर्मी तत्त्वों का कर, स्वयं धर्म के धाम बने।
राजमहल में यदि रहते तो केवल राजा रह जाते,
जब जाकर वन-वन में भटके, राम तभी तो राम बने॥

श्रीराम का जीवन यह संदेश देता है कि महानता सुविधा में नहीं, अपितु कर्तव्य के कठिन मार्ग को स्वीकार करने में है। यदि वे राजमहल में रहकर केवल राजसुख भोगते, तो वे केवल अयोध्या के राजा होते; किन्तु पिता की आज्ञा और सत्य की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने राजसिंहासन का त्याग किया, वनवास स्वीकार किया और असंख्य कठिनाइयों का सामना किया। इसी त्याग, धैर्य, कर्तव्यपरायणता और मर्यादा ने उन्हें लोकनायक और मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में प्रतिष्ठित किया।

श्रीरामचरितमानस नाम भी अपने भीतर एक गहरा सांकेतिक अर्थ समेटे हुए है। इसमें 'श्रीराम', 'चरित' और 'मानस' तीनों शब्दों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। 'श्रीराम' आदर्श और दिव्यता के प्रतीक हैं; 'चरित' उस आदर्श को जीवन में उतारने की प्रेरणा देता है और 'मानस' मनुष्य के अन्तःकरण का बोध कराता है। इस दृष्टि से मानस हमें मानो यह संदेश देता है कि यदि मनुष्य श्रीराम के आदर्शों को अपने जीवन में प्रतिष्ठित करना चाहता है, यदि वह अपने जीवन को सार्थक बनाकर इहलोक और परलोक दोनों को मंगलमय करना चाहता है, तो उसे सर्वप्रथम अपने मन और चरित्र का परिष्कार करना होगा। श्रीरामचरितमानस का मूल आग्रह बाह्य आडम्बर से अधिक आन्तरिक शुद्धि पर है। राम को केवल पूजना ही पर्याप्त नहीं; राम के आदर्शों को अपने आचरण में उतारना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धा है।

श्रीरामचरितमानस में पारिवारिक मूल्यों का भी अत्यन्त सजीव और अनुपम चित्रण मिलता है। श्रीराम की पितृभक्ति, भरत का भ्रातृप्रेम, लक्ष्मण की सेवा-निष्ठा तथा माता सीता की पतिव्रता और सहधर्मिणी के रूप में समर्पित भावना भारतीय पारिवारिक संस्कृति के उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत करती है।

श्रीराम अपने पिता के वचन की मर्यादा रखने के लिए सहज भाव से राजसिंहासन का त्याग कर वनवास स्वीकार कर लेते हैं। लक्ष्मण भ्रातृसेवा को अपना परम सौभाग्य मानते हुए सुख-सुविधाओं से सम्पन्न राजमहल का त्याग कर वन में श्रीराम के साथ चले जाते हैं। सीता अपने पति के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख मानकर वनगमन का निर्णय लेती हैं। वहीं भरत का चरित्र त्याग, विनम्रता, भ्रातृप्रेम और सत्ता-विरक्ति का अद्वितीय उदाहरण प्रस्तुत करता है।

विशेष रूप से भरत का चरित्र भारतीय साहित्य में त्याग और भ्रातृप्रेम की अत्यन्त ऊँची मिसाल है। उन्हें राज्य सहज रूप से प्राप्त हो सकता था, किन्तु उन्होंने उसे अपना अधिकार मानकर स्वीकार नहीं किया। उन्होंने श्रीराम की पादुकाओं को सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर स्वयं प्रतिनिधि के रूप में राज्य का संचालन किया। यह प्रसंग सत्ता के प्रति आसक्ति के स्थान पर कर्तव्य और आत्मसंयम की सर्वोच्च भावना को अभिव्यक्त करता है। इसी भाव को लोक में प्रचलित एक अत्यन्त सारगर्भित उक्ति में इस प्रकार कहा जाता है "जहाँ अपने हक़ का भी त्याग करने की भावना होती है, वहीं रामायण का उदय होता है; और जहाँ दूसरे के हिस्से को हड़पने की भावना जन्म लेती है, वहाँ महाभारत का उदय होता है।

यह उक्ति भले ही शास्त्रीय ग्रन्थ का उद्धरण न हो, किन्तु रामायण और महाभारत की मूल जीवन-दृष्टियों के अन्तर को अत्यन्त सरल एवं प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करती है। रामायण त्याग, मर्यादा, कर्तव्य और सम्बन्धों की प्रतिष्ठा का आदर्श प्रस्तुत करती है, जबकि महाभारत मनुष्य की अधिकार-लिप्सा, सत्ता-संघर्ष, ईर्ष्या और उसके परिणामों का विराट आख्यान है। इस प्रकार श्रीरामचरितमानस मनुष्य के भीतर के 'रामत्व' को जाग्रत करने वाली जीवन-दृष्टि है। जो हमें नित्य प्रेरित करता कि धर्म केवल पूजा-पद्धति नहीं, अपितु आचरण है; भक्ति केवल वाणी का विषय नहीं, अपितु समर्पण है; प्रेम केवल भावना नहीं, अपितु त्याग है; और मर्यादा केवल सामाजिक नियम नहीं, अपितु चरित्र की आधारशिला है। इसीलिए श्रीरामचरितमानस भारतीय जनमानस में केवल एक ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठित नहीं है, अपितु वह जीवन जीने की कला, सम्बन्धों को निभाने की संस्कृति और मनुष्य को मनुष्यता का आधान करने वाले अमर महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित है।

mdpatrika4@gmail.com

आत्मसमर्पण से अनन्त मिलन की यात्रा है प्रेम-भक्ति

प्रोफेसर हरिशंकर पाण्डेय
साहित्य एवं प्राकृत विद्वान् आचार्य

प्रभु की भक्ति, अनन्त की भक्ति, स्वराट्-विराट् परमेश्वर की भक्ति वस्तुत: परम प्रेम का ही स्वरूप है। प्रभु के चरणों में अनन्यता, अविच्छिन्न सम्बन्ध और अखण्ड समर्पण यही प्रेम की सार्थक अभिव्यक्ति है। जब मन का मन से, जीव का परमात्मा से और सीमित का अनन्त से मिलन होता है, तब उस अनुभूति को प्रेम कहा जाता है।

प्रेम वहाँ है जहाँ राग-द्वेष, कामना, स्वार्थ और अधिकार-बोध का लेश भी शेष नहीं रहता। प्रेम में कुछ प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं होती है; वहाँ तो स्वयं को पूर्णत: अर्पित कर देने की उत्कट आकांक्षा होती है। प्रेमी अपने प्रियतम के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पित करके ही धन्य-धन्य हो जाता है। उसके लिए प्रभु का स्मरण ही जीवन का आश्रय है और प्रभु के चरण ही परम गन्तव्य होते हैं।

प्रभु के स्मरणमात्र से जीवन की अनेक बाधाएँ और विपत्तियाँ अपना प्रभाव खोने लगती हैं। प्रेम वह चेतना है जो मनुष्य को सीमित संसार से उठाकर अनन्त आकाश की ओर उन्मुख करती है। यह केवल भावावेश नहीं, अपितु अन्त:करण के कल्मष का क्षय कर उसे निर्मलता, अनाविलता और आत्मिक प्रकाश में प्रतिष्ठित करने वाली अनुभूति है।

प्रेम जीवन का नित्य उत्सव है। जीवन का प्रत्येक क्षण जब प्रभु-स्मरण से स्पन्दित होने लगे, प्रत्येक श्वास जब नाम-संकीर्तन से पवित्र होने लगे, प्रत्येक कर्म जब समर्पण की भावना से सम्पन्न होने लगे और चित्त जब निरन्तर भगवान् के स्वरूप एवं सौन्दर्य के चिन्तन में निमग्न रहने लगे तभी जीवन प्रेममय बनता है। प्रभु के कीर्तन में, उनके स्वरूप-चिन्तन में और उनके चरणों में अहर्निश समर्पित हो जाना ही प्रेम-भक्ति की चरम परिणति है।

प्रेम की यात्रा का प्रथम और अनिवार्य सोपान है अहंकार का विसर्जन हो जाना। जब तक 'मैं' और 'मेरा' का आग्रह बना रहता है, तब तक पूर्ण समर्पण सम्भव नहीं होता। प्रेम में अहंकार का क्षय होता है, अन्त:करण का कालुष्य दूर होता है, स्वार्थजनित बन्धन शिथिल होते हैं और सांसारिक आसक्तियों का प्रभाव क्रमश: क्षीण होने लगता है। इसीलिए भक्ति केवल किसी देवता की उपासना अथवा कर्मकाण्ड का नाम नहीं है। भक्ति वह आन्तरिक अवस्था है जिसमें साधक अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को आराध्य के चरणों में अर्पित कर देता है। वहाँ साधक अपने लिए कुछ माँगता नहीं; वह स्वयं को ही प्रभु को सौंप देता है।

श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि और गोपियों के प्रेम का प्रसंग भक्ति की इसी अनन्यता को अत्यन्त मार्मिक रूप में प्रस्तुत करता है। वंशी की ध्वनि सुनकर गोपियाँ श्रीकृष्ण की ओर आकृष्ट हुईं। वे अपने लौकिक दायित्वों, सामाजिक बन्धनों और व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं से ऊपर उठकर अपने आराध्य के समीप पहुँचीं। श्रीकृष्ण ने उनकी भक्ति की परीक्षा लेते हुए उन्हें अपने-अपने गृह लौट जाने का उपदेश दिया और गृहधर्म तथा सामाजिक मर्यादा का स्मरण कराया। किन्तु गोपियों के लिए यह सामान्य लौकिक आकर्षण का विषय नहीं था। उनके अन्त:करण में श्रीकृष्ण के प्रति ऐसी अनन्य निष्ठा जागृत हो चुकी थी जिसमें अन्य सभी विषय गौण हो गए थे। गोपियों ने श्रीकृष्ण के सम्मुख अपनी इसी अनन्यता को व्यक्त करते हुए कहा—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं
सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्।
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून्॥

— श्रीमद्भागवतम्, 10.29.31

गोपियों का भाव अत्यन्त स्पष्ट है हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! हम आपके चरणकमलों की सेवा के लिए समस्त विषयों का परित्याग करके आपके पास आई हैं। अब हमें पुन: उन्हीं विषयों की ओर

लौटने के लिए क्यों प्रेरित करते हैं? हमें स्वीकार कीजिए और अपने चरणों में स्थान दीजिए। यहाँ 'सर्वविषयत्याग' का अर्थ केवल बाह्य विषयों का परित्याग नहीं, अपितु चित्त की विषयासक्ति का विसर्जन है। भक्ति का वास्तविक अर्थ संसार से पलायन नहीं, अपितु अपने अन्त:करण की आसक्ति को परमात्मा की ओर उन्मुख करना है।

प्रेम में 'दूसरा' नहीं रहता। जहाँ तक स्वार्थ, अपेक्षा और प्रतिदान की भावना विद्यमान है, वहाँ प्रेम अभी पूर्ण नहीं हुआ है। प्रेम की चरम अवस्था वह है जहाँ भक्त के लिए प्रभु ही आश्रय, आलम्बन, लक्ष्य और जीवन का परम प्रयोजन बन जाते हैं। इसीलिए अनन्य भक्ति में साधक यह नहीं कहता कि "प्रभु मुझे यह प्रदान करें।" अपितु उसका भाव होता है "प्रभु! मैं स्वयं आपका हूँ।" यही आत्मसमर्पण प्रेम को सामान्य अनुराग से भक्ति में रूपान्तरित करता है।

गोपियों का प्रेम इसी अनन्यता का प्रतीक है। उनके लिए श्रीकृष्ण केवल आकर्षण के केन्द्र नहीं है, अपितु जीवन के परमाधार हैं। उनके प्रेम में व्यक्तिगत स्वार्थ की अपेक्षा आराध्य के प्रति सम्पूर्ण आत्मनिवेदन का भाव प्रधान है। इसीलिए भागवत-परम्परा में गोपी-प्रेम को भक्ति की अत्यन्त उच्च अवस्था के प्रतीक के रूप में देखा गया है।

प्रेम का चरम रूप समर्पण है। समर्पण का अर्थ अपनी बुद्धि, विवेक अथवा कर्तव्य का परित्याग नहीं है; अपितु अपने अहंकार, स्वार्थ और 'कर्तृत्वाभिमान' को परम सत्ता के चरणों में अर्पित करना है। जब मनुष्य कहता है "सब कुछ मेरा है", तब बन्धन प्रारम्भ होता है; और जब वह अनुभव करता है "सब कुछ प्रभु का है और मैं भी प्रभु का हूँ", तब मुक्ति का द्वार खुलता है। यही भाव भक्तियोग की आधारभूमि है। भक्त अपने कर्म करता है, अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है, किन्तु उनके फल के प्रति अहंकारपूर्ण आसक्ति नहीं रखता। वह अपने जीवन को ईश्वरार्पित मानकर जीता है। इस प्रकार समर्पण जीवन से पलायन नहीं, अपितु जीवन का आध्यात्मिकीकरण है।

मानव-हृदय में कामना, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य जैसी वृत्तियाँ जब प्रबल होती हैं, तब चित्त अशान्त रहता है। प्रेम इन वृत्तियों का दमन मात्र नहीं करता, अपितु चेतना की दिशा ही परिवर्तित कर देता है। जहाँ स्वार्थ था, वहाँ सेवा आती है; जहाँ अधिकार-बोध था, वहाँ समर्पण आता है; जहाँ अहंकार था, वहाँ विनय आती है; और जहाँ असन्तोष था, वहाँ प्रभु-स्मरण से संतोष का उदय होता है। इसलिए प्रेम आत्मा को कलुष से अनाविलता की ओर, अहंकार से समर्पण की ओर और सीमितता से अनन्तता की ओर ले जाने वाली आध्यात्मिक यात्रा है।

जब प्रभु का स्मरण जीवन की सहज वृत्ति बन जाता है, तब जीवन का प्रत्येक क्षण महोत्सव बन उठता है। प्रभु के नाम का कीर्तन, उनके स्वरूप का चिन्तन, सत्संग, सेवा और समर्पित कर्म ये सब भक्त के लिए साधना के साधन ही नहीं, अपितु आनन्द के स्रोत बन जाते हैं। प्रेम जीवन को बाहर से नहीं बदलता; वह मनुष्य की दृष्टि बदल देता है। वही संसार जो पहले बन्धन प्रतीत होता था, प्रेम के प्रकाश में साधना-भूमि बन जाता है। वही कर्म जो पहले बोझ लगते थे, समर्पण की भावना से सेवा बन जाते हैं। वही सम्बन्ध जो पहले अपेक्षाओं से संचालित होते थे, प्रेम के स्पर्श से करुणा और आत्मीयता के माध्यम बन जाते हैं। प्रेम की अन्तिम अवस्था में भक्त और भगवान् के बीच की दूरी सूक्ष्म होती जाती है। भक्त अपने अस्तित्व को प्रभु से पृथक् सत्ता के रूप में अनुभव करने के स्थान पर स्वयं को उनकी सत्ता में समर्पित अनुभव करता है। वहाँ पाने की इच्छा समाप्त हो जाती है और केवल प्रभु में स्थित होने की आकांक्षा शेष रहती है। प्रेम इसलिए अनन्त है कि उसका आधार किसी नश्वर वस्तु में नहीं रहता, अपितु अनन्त परमात्मा में है। संसार के सम्बन्ध परिस्थितियों से बदल सकते हैं, किन्तु परमात्मा के प्रति जागृत अनन्य प्रेम साधक के जीवन को भीतर से रूपान्तरित कर देता है। अत: प्रेम केवल भाव नहीं अपितु साधना है। प्रेम केवल आकर्षण नहीं है यह तो आत्मसमर्पण है। प्रेम केवल प्राप्ति नहीं है यह पूर्ण अर्पण है। प्रेम केवल क्षणिक अनुभूति नहीं है यह अनन्त से जीव का अखण्ड सम्बन्ध है।

जब मनुष्य अपने अहंकार, स्वार्थ और समस्त संकीर्णताओं का अतिक्रमण करके परमात्मा के चरणों में स्वयं को समर्पित कर देता है, तब उसके जीवन में भक्ति का वास्तविक उदय होता है। यही वह अवस्था है जहाँ जीवन का प्रत्येक क्षण प्रभु-स्मरण से आलोकित, प्रत्येक कर्म सेवा से पवित्र और प्रत्येक श्वास प्रेम से स्पन्दित हो उठती है।

mdpatrika4@gmail.com

शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा

डॉ. चेतन वेदिया
सुधी संस्कृत अध्यापक

शुक्ल यजुर्वेद वैदिक वाङ्मय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। यह यज्ञीय कर्म, दार्शनिक चिन्तन तथा आध्यात्मिक साधना का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत करता है। शुक्ल यजुर्वेद की दो प्रमुख शाखाएँ माध्यन्दिनी तथा काण्व प्रसिद्ध हैं। इनमें से माध्यंदिनी शाखा उत्तर भारत में सर्वाधिक प्रचलित रही है। इस शाखा का नाम महर्षि माध्यंदिन के नाम पर पड़ा, जिन्होंने अपने गुरु महर्षि याज्ञवल्क्य से प्राप्त वाजसनेयी संहिता का प्रचार-प्रसार किया। वर्तमान समय में बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश तथा नेपाल के अनेक वैदिक परम्पराओं में इसी शाखा का अध्ययन एवं अनुष्ठान प्रचलित है।

शुक्ल यजुर्वेद को वाजसनेयी संहिता भी कहा जाता है। इसके विषय में परम्परा है कि महर्षि याज्ञवल्क्य ने सूर्यदेव से इस ज्ञान की प्राप्ति की थी। इसी तथ्य का संकेत मिलता है—

"आदित्यानीमानि वाजसनेयानि यजूंषि।"

— शतपथ ब्राह्मण (11.5.6)

माध्यंदिनी शाखा की संहिता में 40 अध्याय तथा लगभग 1975(शाखा भेद से मंत्रों की संख्या अलग-अलग हो सकती है) मन्त्र माने जाते हैं। प्रारम्भिक 39 अध्याय मुख्यत: यज्ञ-विधानों का प्रतिपादन करते हैं, जबकि 40वाँ अध्याय ईशावास्योपनिषद् के रूप में विश्वविख्यात है। इस प्रकार यह शाखा कर्म और ज्ञान दोनों का समन्वित स्वरूप प्रस्तुत करती है। इस शाखा का आरम्भ यज्ञ की पवित्रता और दिव्यता से होता है इषे त्वा ऊर्जे त्वा वायव: स्थोपायव: स्थ। वाजसनेयी संहिता 1.1

यह मन्त्र जीवन में अन्न, बल, ऊर्जा और समृद्धि की कामना का प्रतीक है तथा सम्पूर्ण यज्ञ-परम्परा के कल्याणकारी उद्देश्य को उद्घाटित करता है।माध्यंदिनी शाखा में केवल कर्मकाण्ड का ही वर्णन नहीं है, अपितु सार्वभौमिक मंगल, नैतिकता तथा मानव-कल्याण का भी उत्कृष्ट संदेश मिलता है। उदाहरणार्थ—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥

वाजसनेयी संहिता 30.3

इस मन्त्र में भगवान् सविता से प्रार्थना की गई है कि वे समस्त दु:खों और पापों को दूर कर हमारे लिए कल्याणकारी तत्वों का प्रसाद प्रदान करें। यह वैदिक मानवतावाद का अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है।

माध्यंदिनी शाखा का सर्वोच्च दार्शनिक उत्कर्ष ईशावास्योपनिषद् में दिखाई देता है, जो इसी संहिता का चालीसवाँ अध्याय है। इसका प्रथम मन्त्र सम्पूर्ण वेदान्त का आधार माना जाता है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्यस्विद्धनम्॥

वाजसनेयी संहिता 40.1

इस मन्त्र में सम्पूर्ण जगत् को ईश्वरमय मानते हुए त्याग, संयम तथा निष्काम भोग का उपदेश दिया गया है। यही शुक्ल यजुर्वेद की आध्यात्मिक दृष्टि का मूल है। शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिन (वाजसनेयी) संहिता मुख्यत: यज्ञप्रधान संहिता है। जिनमें वैदिक यज्ञों की विधि, उद्देश्य तथा उनके आध्यात्मिक और सामाजिक महत्व का विस्तृत निरूपण मिलता है। इस शाखा में अग्निहोत्र, दर्श–पूर्णमास, चातुर्मास्य, सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध, पितृमेध तथा सौत्रामणि जैसे महायज्ञों का क्रमबद्ध वर्णन है। इन यज्ञों का उद्देश्य केवल देवपूजन नहीं, अपितु लोककल्याण, ऋत (सार्वभौमिक व्यवस्था) की रक्षा तथा आत्मशुद्धि भी है। यज्ञ के महत्व को व्यक्त करते हुए वाजसनेयी संहिता में प्रार्थना की गई है—

"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।"

वाजसनेयी संहिता, अध्याय १

यह मन्त्र यज्ञकर्ता के सत्य, संयम और धर्मपालन के संकल्प को व्यक्त करता है। इसी प्रकार रुद्राध्याय में प्रसिद्ध महामृत्युञ्जय मन्त्र प्राप्त होता है—

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥"

अध्याय ३, मन्त्र ६०

इस प्रकार माध्यन्दिन शाखा में यज्ञ को केवल कर्मकाण्ड न मानकर धर्म, नैतिकता, लोकसंग्रह और आध्यात्मिक उन्नति का आधार माना गया है। इसके यज्ञ-विधान भारतीय वैदिक संस्कृति के दार्शनिक तथा सामाजिक आदर्शों का सशक्त प्रतिनिधित्व करते हैं। माध्यंदिनी शाखा के साथ शतपथ ब्राह्मण का विशेष सम्बन्ध है। शतपथ ब्राह्मण न केवल यज्ञों की विस्तृत व्याख्या करता है, अपितु सृष्टि-विज्ञान, धर्म, दर्शन, सामाजिक व्यवस्था तथा ब्रह्मविद्या का भी गहन विवेचन प्रस्तुत करता है। इसी परम्परा में बृहदारण्यक उपनिषद् जैसे महान् दार्शनिक ग्रन्थ का उद्भव हुआ, जिसने अद्वैत वेदान्त के विकास में अमूल्य योगदान दिया है। अत: कहा जा सकता है कि शुक्ल यजुर्वेद की माध्यंदिनी शाखा भारतीय वैदिक संस्कृति की एक अत्यन्त समृद्ध एवं प्रामाणिक परम्परा है। इसमें यज्ञ की वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक व्याख्या, नैतिक जीवन के आदर्श, लोककल्याण की भावना तथा ब्रह्मविद्या का अद्भुत समन्वय मिलता है। इस शाखा का अध्ययन केवल वैदिक कर्मकाण्ड तक सीमित नहीं है, अपितु यह भारतीय दर्शन, संस्कृति और आध्यात्मिक चिन्तन को समझने की एक सुदृढ़ आधारशिला भी है।

mdpatrika4@gmail.com

धन का वैदिक दर्शन

स्वामी डॉ. निर्मल दास
विद्वान् कथावाचक

(दान, लोकमंगल और उत्तरदायित्व का शाश्वत संदेश)

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्
द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा
अन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥

(ऋग्वेद - १०.११७.५)

भारतीय वैदिक संस्कृति में धन को केवल भौतिक समृद्धि अथवा उपभोग का साधन नहीं, अपितु धर्म, दान, सेवा और लोकमंगल का दिव्य माध्यम माना गया है। वैदिक मनीषा के अनुसार धन का मूल्य उसके परिमाण में नहीं, अपितु उसके सदुपयोग में निहित है। वर्तमान युग में धनार्जन को ही सफलता का पर्याय मान लेने की प्रवृत्ति प्रबल होती जा रही है, जबकि वेद उद्घोष करते हैं कि धन तभी सार्थक है जब वह समष्टि के कल्याण, दुःख-निवारण और धर्मसंवर्धन का साधन बने। अथर्ववेद का यह प्रेरणादायी मन्त्र धन के वास्तविक स्वरूप, उसके उत्तरदायित्वपूर्ण उपयोग तथा सामाजिक दायित्व का अत्यन्त गम्भीर संदेश प्रदान करता है।

मन्त्र में स्पष्टतः निर्देश है कि जिस व्यक्ति के पास अपनी आवश्यकताओं से अधिक धन उपलब्ध हो, उसे अभावग्रस्त, पीड़ित, याचक अथवा विपन्न जनों की सहायता के लिए तत्पर होना चाहिए। यही मनुष्य का श्रेष्ठ धर्म तथा उदात्त कर्तव्य है। वेद इस मार्ग को "द्राघीयांसं पन्थानम्" अर्थात् दीर्घकाल तक कल्याण प्रदान करने वाला श्रेष्ठ जीवन-पथ कहते हैं। जो व्यक्ति धन को केवल अपने भोग-विलास का साधन बनाता है, उसका ऐश्वर्य सीमित फल देता है; किन्तु जो उसी धन को लोकसेवा, परोपकार और जनकल्याण में नियोजित करता है, उसका जीवन स्वयं भी धन्य हो उठता है और समाज भी समृद्धि एवं समरसता की ओर अग्रसर होता है।

इस मन्त्र का सर्वाधिक प्रभावशाली उपमान रथचक्र है। जिस प्रकार रथ का चक्र कभी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता, उसी प्रकार धन भी स्वभावतः गतिशील है; वह एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के पास निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। इतिहास साक्षी है कि असंख्य समृद्ध वंश कालान्तर में निर्धन हो गए,

जबकि अनेक साधारण परिवार परिश्रम, सदाचार एवं पुरुषार्थ के बल पर समृद्धि के शिखर तक पहुँचे। अत: धन पर अहंकार करना अथवा उसे स्थायी स्वामित्व का विषय मान लेना अविवेक का द्योतक है। धन का स्वभाव परिवर्तनशील है; इसलिए उसके प्रति आसक्ति नहीं, अपितु उत्तरदायित्व का भाव अपेक्षित है।

वेद में धन के लिए "रयि" शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द "रा" धातु से निष्पन्न है, जिसका मूल अर्थ है देना। इस व्युत्पत्ति में ही धन का वैदिक दर्शन अन्तर्निहित है। धन का वास्तविक सौन्दर्य उसके संग्रह में नहीं, अपितु उसके सतत् प्रवाह में है। जो सम्पत्ति समाज के मध्य वितरित होकर लोकहित का माध्यम बनती है, वही चिरस्थायी यश एवं पुण्य की जननी बनती है; परन्तु जो केवल संचय का विषय बनकर रह जाती है, वह अन्ततः निष्प्रयोजन सिद्ध होती है। इसी भाव को भारतीय परम्परा ने अत्यन्त सारगर्भित रूप में व्यक्त किया है "शतहस्त समाहर, सहस्रहस्त संकिर।" अर्थात् सौ हाथों से अर्जन करो और सहस्र हाथों से उसका वितरण करो।

वैदिक परम्परा में दान का अर्थ केवल धन का वितरण नहीं है। भूखे को अन्न प्रदान करना, रोगी को औषधि उपलब्ध कराना, विद्यार्थी को शिक्षा देना, असहाय का संरक्षण करना, विद्वानों का सम्मान करना, गोसंवर्धन, वृक्षारोपण, जल-संरक्षण, संस्कृत तथा वैदिक ज्ञान-परम्परा का पोषण ये सभी दान के व्यापक एवं जीवनोपयोगी स्वरूप हैं। वस्तुत: दान मानवता के प्रति उत्तरदायित्व-बोध की सजीव अभिव्यक्ति है।

वेद यह भी उपदेश देते हैं कि मनुष्य अपनी यथोचित आवश्यकताओं की पूर्ति के उपरान्त शेष धन का एक भाग अनिवार्यत: लोककल्याण में नियोजित करे। ऐसा करने से धन की पवित्रता एवं सार्थकता अक्षुण्ण बनी रहती है। यदि सम्पत्ति केवल संचय का साधन बन जाए तो उससे लोभ, अहंकार, विषमता तथा सामाजिक असंतुलन की उत्पत्ति होती है; किन्तु वही धन जब सेवा, शिक्षा, संस्कार और सहयोग का माध्यम बनता है, तब समाज में प्रेम, समरसता, सह-अस्तित्व तथा सामाजिक न्याय की स्थापना होती है।

समकालीन विश्व आर्थिक विषमता, निर्धनता, बेरोजगारी, सामाजिक असमानता तथा संसाधनों के असंतुलित वितरण जैसी गम्भीर चुनौतियों से संघर्ष कर रहा है। ऐसे समय में अथर्ववेद का यह संदेश पूर्वापेक्षा अधिक प्रासंगिक एवं प्रेरणास्पद प्रतीत होता है। यदि प्रत्येक सम्पन्न व्यक्ति अपनी आय का एक अंश शिक्षा, चिकित्सा, संस्कार, पर्यावरण-संरक्षण, गौसंवर्धन, सांस्कृतिक संरक्षण तथा निर्धनजन-सेवा के लिए समर्पित करे, तो समाज में व्यापक एवं स्थायी परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

वैदिक दृष्टि में धन मनुष्य का निजी स्वामित्व नहीं, अपितु ईश्वर की धरोहर है। मनुष्य उसका केवल संरक्षक एवं न्यासी है। अत: उसका उपयोग भी उसी भावना से होना चाहिए जिससे सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण सुनिश्चित हो। भारतीय जीवन-दर्शन में त्याग, दान, सेवा और परोपकार को धन की सर्वोच्च सार्थकता इसलिए स्वीकार किया गया है कि इन्हीं के माध्यम से व्यक्ति अपने जीवन को लोकमंगल का उपकरण बना सकता है।

निष्कर्षत: अथर्ववेद का यह दिव्य मन्त्र हमें यह अमूल्य शिक्षा प्रदान करता है कि धन का गौरव उसके संचय में नहीं, अपितु उसके सदुपयोग में है। जो सम्पत्ति पीड़ित के अश्रु पोंछे, निर्धन को संबल दे, विद्यार्थियों का भविष्य आलोकित करे, संस्कृति का संरक्षण करे, पर्यावरण का संवर्धन करे तथा मानवता के कल्याण में समर्पित हो वही वास्तविक अर्थों में "रयि" कहलाने की अधिकारी है। धन रथचक्र के समान निरन्तर गतिशील है; अत: उसके प्रति मोह या अहंकार का नहीं, अपितु धर्म, सेवा, दान और लोककल्याण का भाव ही मनुष्य का आभूषण होना चाहिए। यही वैदिक संस्कृति का शाश्वत संदेश है और यही न्यायपूर्ण, समरस तथा आदर्श समाज की सुदृढ़ आधारशिला भी।

mdpatrika4@gmail.com

स्वतन्त्रता की शास्त्रीय अवधारणा

डॉ. वेदप्रकाशमिश्र
शिक्षाविद्, लेखक एवं वक्ता

'स्वतन्त्र' यह शब्द भारतीय बौद्धिक परम्परा का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शब्द है। आधुनिक हिन्दी में 'स्वतन्त्रता' का सामान्य अर्थ बन्धन से मुक्ति, पराधीनता का अभाव तथा अपने निर्णय स्वयं लेने की क्षमता माना जाता है; किन्तु संस्कृत वाङ्मय में 'स्वतन्त्र' शब्द का अर्थ इससे कहीं अधिक व्यापक एवं सूक्ष्म है। इसमें स्वाधीनता, अनियन्त्रण, स्वेच्छाचारिता, आत्मनिर्भरता, स्वत:-प्रवृत्तता तथा अपने कार्य के लिए अन्य किसी सत्ता पर अनपेक्षित निर्भरता का अभाव जैसे अनेक अर्थ निहित हैं। 'स्वतन्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति 'स्वं तन्त्रं प्रधानं यस्य' सामान्यत: 'स्व' + 'तन्त्र' से मानी जाती है। यहाँ 'स्व' का अर्थ स्वयं तथा 'तन्त्र' का अर्थ प्रधान से ग्रहण किया जा सकता है। अत: जो अपने कार्य-व्यवहार में किसी अन्य के नियन्त्रण या अधीनता पर निर्भर न हो, वह 'स्वतन्त्र' कहलाता है।

संस्कृत कोशों और शास्त्रीय ग्रन्थों में इस शब्द का जो अर्थ-विस्तार प्राप्त होता है, उससे स्पष्ट होता है कि भारतीय चिन्तन में स्वतन्त्रता केवल राजनीतिक या सामाजिक अधिकार का विषय नहीं थी, अपितु यह व्यक्ति की कर्तृत्व-क्षमता, निर्णय-स्वायत्तता और उत्तरदायित्व से भी सम्बद्ध थी। वाचस्पत्यम् में 'स्वतन्त्र' का अर्थ देते हुए कहा गया है "स्वस्य तन्त्रं वशीकार: यस्य।" अर्थात् जिसके कार्य में अपने ही वशीकार अथवा नियन्त्रण की प्रधानता हो, वह स्वतन्त्र है। आगे इसे "स्वाधीने" अर्थात् अपने अधीन रहने वाले अर्थ में भी ग्रहण किया गया है। यह व्युत्पत्तिपरक दृष्टि 'स्वतन्त्रता' को केवल बाहरी बन्धनों से मुक्ति के रूप में न देखकर आत्मनियन्त्रण और स्वाधीन कर्तृत्व के रूप में देखने का मार्ग प्रशस्त करती है।

प्राचीन भारतीय कोशकार अमरसिंह नें 'स्वतन्त्र' के लिए अनेक पर्याय शब्द प्रस्तुत किए गए हैं "स्वतन्त्रोऽपावृत: स्वैरी स्वच्छन्दो निरवग्रह:।" अमरकोश, ३.१.१५ यहाँ 'स्वतन्त्र' के प्रमुख पर्याय अपावृत, स्वैरी, स्वच्छन्द, निरवग्रह दिए हैं। इन पर्यायों से स्वतन्त्रता के विभिन्न पक्ष उद्घाटित होते हैं। 'अपावृत' बाहरी बन्धन के अभाव को व्यक्त करता है, 'स्वैरी' स्वेच्छा को, 'स्वच्छन्द' इच्छानुसार आचरण को और 'निरवग्रह' नियन्त्रण-विहीनता को प्रकट करता है। इस प्रकार अमरकोश में 'स्वतन्त्र' का अर्थ केवल 'मुक्त' नहीं है, अपितु वह बाह्य नियन्त्रण से मुक्ति तथा अपने अनुसार आचरण करने की क्षमता दोनों को व्यक्त करता है।

कल्पद्रुम में 'स्वतन्त्र' के अर्थ को अधिक विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। वहाँ इसे "स्वाधीन:" कहा गया है और इसके अनेक पर्याय दिए गए हैं "अपावृत:, स्वैरी, स्वच्छन्द:, निरवग्रह:" तथा जटाधर के अनुसार "निर्यन्त्रिण:, यथाकामी, निर्गल:, निरङ्कुश:।" हेमचन्द्र के अनुसार इसका एक पर्याय "स्वरुचि" भी है। इन पर्यायों का विश्लेषण करने पर स्वतन्त्रता के अनेक आयाम सामने आते हैं।

» **स्वाधीनता –** व्यक्ति के निर्णय को स्वयं निर्धारित करने की क्षमता है।
» **यथाकामिता –** इच्छानुरूप कार्य करने की स्वतंत्रता को व्यक्त करती है।
» **निरङ्कुशता –** बाहरी नियन्त्रण के अभाव को सूचित करती है।
» **स्वरुचि –** व्यक्ति की अपनी रुचि और चयन की स्वतंत्रता को प्रकट करती है।

इस प्रकार कोशकारों ने 'स्वतन्त्र' शब्द को केवल एक अर्थ में सीमित न रखकर उसके सामाजिक, नैतिक, व्यवहारिक और मनोवैज्ञानिक आयामों को भी संकेतित किया है।

धर्मशास्त्रीय एवं व्यवहारपरक साहित्य में 'स्वतन्त्र' शब्द का प्रयोग सामाजिक सम्बन्धों के निर्धारण में भी हुआ है। प्रस्तुत कोशीय सामग्री में नारद के मत का उल्लेख मिलता है।

"अस्वतन्त्राः प्रजाः सर्वाः स्वतन्त्रः पृथिवीपतिः।" अर्थात् सामान्य प्रजाजन राजा के अधीन माने गए हैं और पृथिवीपति स्वतन्त्र माना गया है। इसी प्रकार "अस्वतन्त्रः स्मृतः शिष्य आचार्यस्य..." अर्थात् शिष्य आचार्य के अनुशासन के अधीन माना गया है। आगे स्त्रियों, पुत्रों, दासों तथा परिग्रहों को भी सामाजिक-व्यवहार की दृष्टि से अस्वतन्त्र कहा गया है। यहाँ आधुनिक सामाजिक मानदण्डों से तत्काल मूल्यांकन करने के स्थान पर यह समझना आवश्यक है कि प्राचीन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में 'स्वतन्त्र' और 'अस्वतन्त्र' का प्रयोग मुख्यतः अधिकार, उत्तरदायित्व, संरक्षण और व्यवहारिक स्वामित्व की तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के संदर्भ में हुआ था। इससे यह तथ्य स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में 'स्वतन्त्रता' की अवधारणा केवल वैयक्तिक नहीं थी; वह सामाजिक स्थिति और उत्तरदायित्व से भी जुड़ी हुई थी।

'व्यवहारतत्त्व' में व्यक्ति की आयु तथा व्यवहारिक स्वतन्त्रता का भी सम्बन्ध स्थापित किया गया है। वहाँ बाल्यावस्था से युवावस्था की ओर बढ़ते हुए व्यक्ति के क्रमिक रूप से व्यवहार में सक्षम होने की चर्चा मिलती है। उद्धृत अंश में कहा गया है बाल आषोडशाद्वर्षात् पौगण्डोऽपि निगद्यते। परतो व्यवहारज्ञः स्वतन्त्रः पितरावृते॥ अर्थात् एक निश्चित आयु के पश्चात् व्यक्ति व्यवहार को समझने और उसके अनुसार कार्य करने में सक्षम माना जाता है। यहाँ 'स्वतन्त्र' का सम्बन्ध केवल उम्र से नहीं है, अपितु व्यवहार-बोध और उत्तरदायित्व से है। इससे भारतीय विधि-चिन्तन में यह धारणा दिखाई देती है कि वास्तविक स्वतन्त्रता के साथ व्यवहारिक क्षमता भी आवश्यक है।

व्याकरण-दर्शन में 'स्वतन्त्र' शब्द का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तकनीकी अर्थ प्राप्त होता है। पाणिनीय परम्परा में कर्ता की परिभाषा करते हुए सूत्र है "स्वतन्त्रः कर्ता।" अष्टाध्यायी, १.४.५४ यह सूत्र 'स्वतन्त्र' शब्द के दार्शनिक और व्याकरणिक महत्त्व को समझने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। व्याकरण में कर्ता वह माना जाता है जो क्रिया के सम्पादन में प्रधान होता है। महाभाष्य और परवर्ती व्याकरणपरम्परा में इस 'स्वतन्त्रता' का अर्थ यह नहीं कि कर्ता पूर्णतः निरपेक्ष या सर्वथा अनियन्त्रित है, अपितु उसका तात्पर्य है कि क्रिया-व्यापार में उसकी प्रधानता होती है।

वाचस्पत्यम् में इसी अर्थ की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि कर्ता वह है जिसका व्यापार अन्य व्यापारों पर आश्रित न होकर क्रिया में प्रधान रूप से प्रवर्तित होता है। इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण में 'स्वतन्त्र' का प्रयोग अत्यन्त सूक्ष्म दार्शनिक अर्थ ग्रहण करता है। यहाँ स्वतन्त्रता का सम्बन्ध कर्तृत्व और क्रियाप्रवर्तन की प्रधानता से है।

आधुनिक दृष्टि से इन सभी को स्वतन्त्रता का समानार्थी मान लेना उचित नहीं होगा। स्वतन्त्रता का सकारात्मक पक्ष है स्वयं निर्णय लेना एवं उत्तरदायित्व स्वीकार करना। जबकि स्वेच्छाचारिता का अर्थ हो सकता है अपनी इच्छा को सर्वोपरि मानकर नियम और सामाजिक उत्तरदायित्व की उपेक्षा करना। इसी कारण भारतीय चिन्तन में वास्तविक स्वतन्त्रता को प्राय: संयम और धर्म के साथ देखा गया है। यदि व्यक्ति अपने विवेक, कर्तव्य और सामाजिक उत्तरदायित्व से विमुख हो जाए, तो उसकी स्वतन्त्रता स्वच्छन्दता या उच्छृंखलता में परिवर्तित हो सकती है। अत: भारतीय दृष्टि से स्वतन्त्रता स्वाधीन निर्णय, आत्मसंयम, उत्तरदायित्व बोध के साथ व्यक्त होती है।

पाश्चात्य संस्कृत-कोशकार मोनियर-विलियम्स ने Sanskrit-English Dictionary में स्वतन्त्र के अर्थों में self-dependence, independence, self-will, freedom, self-dependent, independent, free, uncontrolled, of age / full grown जैसे अर्थ प्रस्तुत किए हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत 'स्वतन्त्र' का अर्थ आधुनिक अंग्रेजी के independent, free, self-dependent और कुछ संदर्भों में self-willed जैसे शब्दों के अर्थक्षेत्र से सम्बद्ध है। विशेष रूप से 'of age' अथवा 'full grown' का अर्थ यह संकेत करता है कि संस्कृत साहित्य में स्वतन्त्रता का सम्बन्ध परिपक्वता से भी रहा है। अर्थात् स्वतन्त्रता केवल अधिकार नहीं होती, अपितु व्यक्ति की व्यवहारिक एवं सामाजिक परिपक्वता से भी जुड़ी हुई अवधारणा है।

शब्दसागर में 'स्वतन्त्र' के तीन अर्थ दिए गए हैं– अनियन्त्रित या अबाध, स्वतन्त्र एवं स्वाधीन, वयस्क अथवा उस अवस्था में पहुँच चुका व्यक्ति जो माता-पिता के अधिकार के अधीन न हो। यहाँ भी 'स्वतन्त्र' के दो महत्त्वपूर्ण पक्ष सामने आते हैं। बाह्य स्वतन्त्रता जो किसी नियन्त्रण या बन्धन से मुक्त हो। व्यक्तिगत परिपक्वता इतनी आयु और क्षमता प्राप्त कर लेना कि व्यक्ति अपने निर्णय स्वयं कर सके। इस अर्थ में स्वतन्त्रता को केवल राजनीतिक अधिकार के रूप में देखना संस्कृत शब्द के व्यापक अर्थक्षेत्र को सीमित कर देगा। उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर 'स्वतन्त्र' की अवधारणा को स्वाधीनता (किसी अन्य व्यक्ति या सत्ता पर अनावश्यक निर्भरता का अभाव।), आत्मनिर्णय (अपने कार्यों और जीवन-संबंधी निर्णयों को स्वयं लेने की क्षमता।), कर्तृत्व (किसी क्रिया के सम्पादन में स्वयं प्रधान भूमिका निभाना।), आत्मनियन्त्रण (स्वतन्त्र होकर भी विवेक और संयम के साथ व्यवहार करना।), व्यवहारिक परिपक्वता (ऐसी अवस्था जिसमें व्यक्ति अपने निर्णयों के परिणाम को समझ सके।), उत्तरदायित्व (स्वतन्त्रता के साथ अपने कर्मों के परिणाम को स्वीकार करने की क्षमता।) के रूपों में समझा जा सकता है। अत: भारतीय परम्परा में स्वतन्त्रता को अधिकार और दायित्व के समन्वय के रूप में समझा गया है।

आधुनिक लोकतान्त्रिक समाज में स्वतन्त्रता को मौलिक मानवीय अधिकार के रूप में स्वीकार किया गया है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, विचार की स्वतन्त्रता, शिक्षा की स्वतन्त्रता, धार्मिक आस्था की स्वतन्त्रता तथा जीवन-निर्णयों की स्वतन्त्रता आधुनिक समाज में इसके विविध रूप हैं किन्तु संस्कृत के 'स्वतन्त्र' शब्द की मूल अवधारणा आधुनिक स्वतन्त्रता-विमर्श को एक महत्त्वपूर्ण अतिरिक्त आयाम प्रदान करती है जिसमें स्वतन्त्रता के साथ आत्मनियन्त्रण भी हो। क्योंकि यदि स्वतन्त्रता से उत्तरदायित्व को अलग कर दिया जाए, तो वह स्वच्छन्दता बन जाती है। इसके विपरीत यदि उत्तरदायित्व के नाम पर व्यक्ति की निर्णय-क्षमता ही समाप्त कर दी जाए, तो वह परतन्त्रता बन जाती है। अत: स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था में आवश्यकता है विवेकपूर्ण स्वाधीनता की।

'स्वतन्त्र' शब्द का यह अध्ययन स्पष्ट करता है कि भारतीय ज्ञान-परम्परा में स्वतन्त्रता की अवधारणा अत्यन्त प्राचीन, बहुआयामी और सूक्ष्म रही है। अमरकोश इसे 'अपावृत', 'स्वैरी', 'स्वच्छन्द' और 'निरवग्रह' जैसे पर्यायों से सम्बद्ध करता है; कल्पद्रुम तथा वाचस्पत्यम् इसे स्वाधीनता और स्ववशीकरण से जोड़ते हैं; शब्दसागर इसे स्वतंत्रता के साथ वयस्कता एवं सामाजिक अधिकार से सम्बद्ध करता है; वहीं मोनियर-विलियम्स 'self-dependence', 'independence', 'freedom' और 'self-will' जैसे अर्थ प्रस्तुत करते हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पाणिनीय व्याकरण में "स्वतन्त्र: कर्ता।" केवल दो शब्दों में स्वतन्त्रता को कर्तृत्व की प्रधानता से व्यक्त कर दिया गया है। इस प्रकार 'स्वतन्त्र' का वास्तविक अर्थ केवल 'बन्धन से मुक्त' होना नहीं है, अपितु स्वयं निर्णय करने, स्वयं प्रवर्तित होने और अपने कर्म के प्रति उत्तरदायी होने की क्षमता है। अत: भारतीय शास्त्र परम्परा के आलोक में कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता केवल बन्धन का अभाव नहीं है, अपितु विवेकपूर्वक अपने कर्तृत्व का प्रयोग करने की क्षमता है, जो आधुनिक स्वतन्त्रता को अधिक उत्तरदायी, मानवीय और मूल्यपरक बना सकती है।

mdpatrika4@gmail.com

भारतीय भाषाओं सह संस्कृत अध्ययन की प्रासंगिकता

डॉ. सुरेश कुमार शर्मा
संस्कृत विद्वान्, लेखक

संस्कृत विश्व की प्राचीनतम, वैज्ञानिक, परिष्कृत एवं समृद्ध भाषाओं में अग्रगण्य है। यह केवल एक भाषा नहीं, अपितु भारत की सांस्कृतिक चेतना, दार्शनिक परम्परा, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला तथा आध्यात्मिक जीवन की आधारशिला है। भारत की सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान-परम्परा का प्रामाणिक स्वरूप संस्कृत वाङ्मय में सुरक्षित है। वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, दर्शन, आयुर्वेद, गणित, ज्योतिष, नाट्यशास्त्र, वास्तुशास्त्र, व्याकरण, योग तथा अन्यान्य विद्याओं के असंख्य ग्रन्थ संस्कृत में ही प्रणीत हुए हैं। इस दृष्टि से संस्कृत भारत की आत्मा, सांस्कृतिक अस्मिता तथा बौद्धिक विरासत की संवाहिका है। यथा कहा गया है

» "सा संस्कृतिः सा भाषा या संस्कृतं समाश्रिता।" जिस संस्कृति का आधार संस्कृत है, वही वास्तविक भारतीय संस्कृति है।
» वेदाः सर्वेऽपि यत्र सन्ति सा भाषा संस्कृतं स्मृता।" जिस भाषा में समस्त वेदों का ज्ञान निहित है, वही संस्कृत है।

यद्यपि संस्कृत अत्यन्त सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक भाषा है, तथापि विधिवत् अध्ययन के अभाव में अनेक लोग इसे क्लिष्ट मान बैठते हैं। वस्तुतः कोई भी भाषा अपने स्वरूप से न सरल होती है और न क्लिष्ट; उसकी सरलता अथवा कठिनता शिक्षण-पद्धति, अभ्यास तथा भाषाज्ञान पर निर्भर करती है। संस्कृत के व्याकरण की तार्किकता, शब्द-निर्माण की वैज्ञानिक प्रणाली तथा अभिव्यक्ति की सुस्पष्टता उसे विश्व की सर्वाधिक व्यवस्थित भाषाओं में प्रतिष्ठित करती है।

यथा पाणिनीय परम्परा में कहा गया है "अष्टाध्यायी महाव्याकरणं सर्वभाषाणां मूलम्।" पाणिनि का व्याकरण समस्त भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन का मूल आधार है।

दुर्भाग्यवश, इस भाषा का सम्यक् परिचय न होने के कारण अनेक लोग स्वयं इससे दूर रहते हैं और दूसरों को भी इसके अध्ययन से विमुख करते हैं।

वर्तमान विद्यालयी शिक्षा-व्यवस्था में संस्कृत का अध्ययन प्रायः कक्षा 6 से आरम्भ होता है, वह भी अधिकांशतः वैकल्पिक विषय के रूप में। कक्षा 8 के पश्चात् भी संस्कृत के अध्ययन का अवसर सभी विद्यार्थियों को उपलब्ध हो, यह सुनिश्चित नहीं है। फलतः अधिकांश विद्यार्थियों का संस्कृत से परिचय अत्यल्प रह जाता है। उच्च शिक्षा में यदि कोई विद्यार्थी संस्कृत का चयन करता भी है, तो उसे भाषा के मूलभूत ज्ञान के अभाव में सीधे शास्त्रीय साहित्य का अध्ययन प्रारम्भ करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में भाषा-कौशल, शास्त्रबोध तथा अनुसंधानात्मक क्षमता का अपेक्षित विकास कठिन हो जाता है।

एक संस्कृत अध्येता एवं अध्यापक के रूप में यह अनुभव बार-बार सामने आता है कि यदि बाल्यावस्था से ही संस्कृत का सुनियोजित एवं सतत् अध्ययन प्रारम्भ कराया जाए, तो विद्यार्थी सहज रूप से इस भाषा के वैज्ञानिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक वैभव से परिचित हो सकेंगे। केवल संस्कृत की आवश्यकता पर विचार करते रहना पर्याप्त नहीं है; अब उसे शिक्षा की मुख्यधारा में प्रभावी रूप से प्रतिष्ठित करने का समय आ गया है।

यथा कहा गया है "बाल्ये संस्कारिता विद्या सर्वविद्याप्रकाशिनी।" बाल्यकाल में प्राप्त शिक्षा समस्त विद्याओं का प्रकाश करती है।

वर्तमान शिक्षा-व्यवस्था में संस्कृत अध्ययन की प्रमुख चुनौतियाँ

» विद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन अधिकांशतः वैकल्पिक विषय के रूप में सीमित है।
» संस्कृत को केवल भाषा-विषय के रूप में पढ़ाया जाता है;

उच्च माध्यमिक स्तर तक इसे समुचित शैक्षिक स्थान प्राप्त नहीं हो पाया है।

» संस्कृत का चयन करने वाले विद्यार्थियों की संख्या अपेक्षाकृत कम है।

» अनेक विद्यालयों में संस्कृत के स्थान पर अन्य विषयों का चयन करने के लिए विद्यार्थियों को प्रेरित किया जाता है।

» संस्कृत का अध्ययन प्राय: केवल परीक्षा उत्तीर्ण करने तक सीमित रह जाता है; जीवनोपयोगी एवं ज्ञानपरक भाषा के रूप में उसकी उपयोगिता विद्यार्थियों तक पर्याप्त रूप से नहीं पहुँच पाती।

भारतीय भाषाओं एवं संस्कृत के समन्वित अध्ययन की आवश्यकता

यदि भारत की ज्ञान-परम्परा, भाषिक एकता तथा सांस्कृतिक निरन्तरता को सुदृढ़ करना है, तो भारतीय भाषाओं के साथ संस्कृत का समन्वित अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इस संदर्भ में कहा गया है "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।" (ऋग्वेद) अर्थात् सत्य एक है, विद्वान् उसे अनेक रूपों में व्यक्त करते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु निम्नलिखित उपक्रम अपेक्षित हैं—

» विद्यार्थियों के विद्यालय में प्रवेश के साथ ही संस्कृत का परिचय प्रारम्भ कराया जाए।

» प्रत्येक भारतीय भाषा के साथ संस्कृत का समन्वित अध्ययन सुनिश्चित किया जाए।

» प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक संस्कृत का क्रमिक एवं सतत् समावेश किया जाए।

» विद्यार्थियों को यह बोध कराया जाए कि भारतीय भाषाओं के शब्द-भण्डार, व्याकरण, साहित्य तथा अभिव्यक्ति-परम्परा के विकास में संस्कृत का अनुपम योगदान रहा है।

» भारतीय भाषाओं के व्याकरणिक आधार तथा संस्कृत की वैज्ञानिक संरचना से विद्यार्थियों का व्यवस्थित परिचय कराया जाए।

» भारतीय ज्ञान-परम्परा, सांस्कृतिक विरासत तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साथ संस्कृत का संबंध व्यवहारिक उदाहरणों सहित प्रस्तुत किया जाए।

भारतीय भाषाओं के साथ संस्कृत के समवेत अध्ययन के लाभ

» विद्यार्थियों में संस्कृत के प्रति अभिरुचि, जिज्ञासा एवं आत्मीयता का विकास होगा।

» भारतीय भाषाओं के साथ संस्कृत का समन्वित शिक्षण शिक्षा-जगत् में एक प्रभावी एवं आकर्षक नवाचार सिद्ध होगा।

» भारतीय भाषाओं और संस्कृत का समन्वय वस्तुत: मणि-काञ्चन-संयोग के समान होगा।

» विद्यार्थियों में तार्किक चिन्तन, विश्लेषणात्मक क्षमता, भाषिक दक्षता तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास होगा।

» संस्कृत की सौन्दर्यपरकता, व्याकरणिक शुद्धता तथा अभिव्यक्ति की सशक्तता से विद्यार्थी परिचित होंगे।

» भारतीय संस्कृति, इतिहास एवं ज्ञान-परम्परा का अध्ययन अधिक प्रामाणिक एवं व्यापक बन सकेगा।

» संस्कृत के माध्यम से अन्य विषयों के गूढ़ सिद्धान्तों को समझने की क्षमता में वृद्धि होगी।

» विद्यार्थी संस्कृत की वास्तविक उपादेयता को समझकर उसे स्वेच्छा से अपनाने के लिए प्रेरित होंगे।

» संस्कृत का व्यवस्थित अध्ययन भारतीय भाषाओं के प्रति भी सम्मान और आत्मगौरव की भावना को सुदृढ़ करेगा।

» भारतीय भाषाओं एवं संस्कृत के विद्वानों के संयुक्त प्रयास से उच्चकोटि की समन्वित पाठ्य-सामग्री का निर्माण सम्भव होगा।

» मातृभाषा के साथ संस्कृत का अध्ययन विद्यार्थियों को भारत की प्राचीनतम ज्ञान-परम्परा से प्रत्यक्ष रूप से जोड़ेगा।

» संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन के प्रति विद्यार्थियों में स्वाभाविक रुचि तथा अनुसंधान-प्रवृत्ति का विकास होगा।

» भारतीय ज्ञान-परम्परा के संरक्षण, संवर्धन एवं वैश्विक प्रसार की दिशा में यह अत्यन्त प्रभावी कदम सिद्ध होगा।

» यदि शिक्षा-व्यवस्था में इस प्रकार का समन्वित मॉडल अपनाया जाता है, तो भारत पुन: ज्ञान, संस्कृति और भाषा के क्षेत्र में विश्व का मार्गदर्शक बन सकेगा।

"विद्यया विन्दतेऽमृतम्।" (यजुर्वेद) (विद्या के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति होती है।) समय की आवश्यकता है कि संस्कृत को केवल एक वैकल्पिक भाषा के रूप में न देखकर भारतीय शिक्षा की आधारभूत भाषा के रूप में पुन: प्रतिष्ठित किया जाए। भारतीय भाषाओं और संस्कृत का समन्वित अध्ययन न केवल भाषिक समृद्धि का माध्यम बनेगा, अपितु राष्ट्रीय एकात्मता, सांस्कृतिक आत्मबोध, बौद्धिक विकास तथा भारतीय ज्ञान-परम्परा के पुनर्जागरण का भी सशक्त आधार सिद्ध होगा। यथा कहा गया है वही विद्या है जो मुक्ति प्रदान करे। "सा विद्या या विमुक्तये।"

अत: अब वह समय आ गया है जब भारतीय शिक्षा-नीति में संस्कृत को प्रत्येक भारतीय भाषा के साथ समन्वित रूप से अध्ययन-अध्यापन का अविभाज्य अंग बनाया जाए। यही भारत की सांस्कृतिक निरन्तरता, ज्ञान-समृद्धि तथा वैश्विक नेतृत्व की दिशा में एक सार्थक, दूरदर्शी एवं युगानुकूल पहल होगी।

mdpatrika4@gmail.com

अद्वैत वेदान्त दर्शन में विविध समाधान

डॉ० प्रांगेश कुमार मिश्र
आचार्य दर्शन विभाग

आचार्य शंकर (शंकराचार्य) द्वारा प्रतिपादित अद्वैत वेदान्त भारतीय दार्शनिक परम्परा की सर्वोच्च उपलब्धियों में से एक है। यह केवल आध्यात्मिक अनुभूति का दर्शन नहीं, अपितु जीवन, जगत् और मानव-अस्तित्व की गहनतम समस्याओं का तर्कसंगत एवं अनुभवपरक समाधान प्रस्तुत करने वाली समग्र जीवन-दृष्टि है। आज का युग अभूतपूर्व वैज्ञानिक प्रगति, तकनीकी विकास और भौतिक समृद्धि का युग है, किन्तु इसके साथ ही मानसिक तनाव, सामाजिक विखण्डन, पर्यावरणीय संकट, नैतिक अवमूल्यन तथा अस्तित्वगत असुरक्षा जैसी समस्याएँ भी तीव्र होती जा रही हैं। ऐसे समय में अद्वैत वेदान्त केवल दार्शनिक विमर्श का विषय नहीं, अपितु मानवीय जीवन के लिए एक व्यावहारिक एवं सार्वकालिक मार्गदर्शक सिद्ध होता है।

1. मानसिक शान्ति एवं तनाव से मुक्ति

आधुनिक जीवन तीव्र प्रतिस्पर्धा, उपभोक्तावाद, अकेलेपन और निरन्तर बढ़ती भौतिक आकांक्षाओं से संचालित हो रहा है। परिणामस्वरूप मनुष्य बाह्य उपलब्धियों के पीछे भागते-भागते अपने अन्तर्मन से दूर होता जा रहा है। इच्छाओं की अनन्त श्रृंखला उसे तनाव, असन्तोष और मानसिक अशान्ति की ओर ले जाती है।

अद्वैत वेदान्त इस समस्या का समाधान मनुष्य के वास्तविक स्वरूप के बोध में देखता है। उसके अनुसार जीव का सत्य स्वरूप सच्चिदानन्द ब्रह्म है। संसार की समस्त वस्तुएँ परिवर्तनशील एवं अनित्य हैं; अत: उनमें स्थायी सुख की खोज दु:ख का कारण बनती है। जब मनुष्य अपने वास्तविक आत्मस्वरूप का अनुभव करता है, तब वह बाह्य परिस्थितियों से परे आन्तरिक शान्ति और आत्मानन्द का अनुभव करता है। यही आत्मज्ञान मानसिक संतुलन और स्थायी प्रसन्नता का आधार बनता है।

2. वैश्विक एकता और विश्व-बन्धुत्व

वर्तमान विश्व जातीय संघर्षों, धार्मिक कट्टरता, सांस्कृतिक असहिष्णुता और भू-राजनीतिक प्रतिस्पर्धाओं से जूझ रहा है। राष्ट्रों के मध्य अविश्वास तथा समाजों के भीतर विभाजन की प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ रही है।

अद्वैत वेदान्त का मूल सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण सृष्टि में एक ही परमात्मा विविध नाम-रूपों के माध्यम से अभिव्यक्त हो रहा है। उपाधियों के कारण भेद का अनुभव होता है, परन्तु तत्त्वत: समस्त जीव एक ही चेतना के विविध प्रतिबिम्ब हैं। जैसे एक आकाश अनेक घटों में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह एक ही रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही समस्त प्राणियों में एकरस रूप से विद्यमान है। उपनिषद् इस सार्वभौमिक एकत्व का अत्यन्त प्रभावशाली प्रतिपादन करते हैं—

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईशावास्योपनिषद्)

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत:।
तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत:॥

(ईशावास्योपनिषद्)

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्र केन कं पश्येत्...

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

जब प्रत्येक व्यक्ति में उसी आत्मा का दर्शन होता है, तब द्वेष, हिंसा और वैमनस्य का कोई आधार नहीं रह जाता। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त वैश्विक शान्ति और विश्व-बन्धुत्व का सशक्त दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है।

3. पर्यावरण संरक्षण और पारिस्थितिक संतुलन

मानव की असीम उपभोगवादी प्रवृत्ति ने प्रकृति का व्यापक दोहन किया है, जिसके परिणामस्वरूप जलवायु परिवर्तन, जैव-विविधता का ह्रास, प्रदूषण तथा पारिस्थितिक असंतुलन जैसी समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं।

अद्वैत वेदान्त प्रकृति और मनुष्य को परस्पर पृथक् सत्ता नहीं मानता। उसके अनुसार जड़ और चेतन दोनों उसी परम ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ हैं। ब्रह्म सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी तथा समस्त जगत् का आधार है। इसलिए प्रकृति का प्रत्येक अंश आदर और संरक्षण का अधिकारी है। उपनिषद् का यह उद्घोष नेह नानास्ति किञ्चन। (छान्दोग्योपनिषद्) स्पष्ट करता है कि इस जगत् में वास्तविक अर्थ में कोई द्वैत नहीं है। अत: प्रकृति का संरक्षण वस्तुत: स्वयं मानवता के संरक्षण का ही पर्याय है।

4. विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय

आधुनिक शिक्षित समाज तर्क, अनुभव और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को महत्त्व देता है। इसलिए वह आध्यात्मिक विचारों को भी विवेकपूर्ण आधार पर समझना चाहता है।

अद्वैत वेदान्त तर्क, अनुभव और आत्मानुभूति तीनों को समान महत्त्व देता है। उसका उद्देश्य अन्धविश्वास का समर्थन नहीं, अपितु सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव है। समकालीन विज्ञान, विशेषत: क्वाण्टम भौतिकी के कुछ विचारों और अद्वैत वेदान्त के मध्य अनेक विद्वानों ने वैचारिक साम्य की ओर संकेत किया है, यद्यपि दोनों की कार्यपद्धति और उद्देश्य भिन्न हैं।

उपनिषद् का यह कथन—

तस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।

(मुण्डकोपनिषद् १.१.३)

यह प्रतिपादित करता है कि परम तत्त्व के ज्ञान से सम्पूर्ण अस्तित्व का मूल रहस्य उद्घाटित हो जाता है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त वैज्ञानिक जिज्ञासा और आध्यात्मिक अनुभूति के मध्य संवाद स्थापित करने की प्रेरणा देता है।

5. आत्म-मूल्य, आत्मविश्वास और अवसाद से मुक्ति

आज विशेषत: युवा वर्ग असफलता, प्रतिस्पर्धा, सामाजिक तुलना तथा भविष्य की अनिश्चितताओं के कारण हीनभावना, निराशा और अवसाद का अनुभव कर रहा है। अनेक लोग अपने वास्तविक सामर्थ्य को पहचानने से पूर्व ही आत्मविश्वास खो बैठते हैं।

अद्वैत वेदान्त मनुष्य को उसकी दिव्य सत्ता का स्मरण कराता है। वह यह प्रतिपादित करता है कि आत्मा न तो दुर्बल है, न सीमित और न ही मूलत: अपूर्ण; वह स्वयं ब्रह्मस्वरूप, अनन्त चेतना और असीम संभावनाओं का स्रोत है। इस आत्मबोध से व्यक्ति में आत्मसम्मान, धैर्य, साहस और सकारात्मक जीवन-दृष्टि का विकास होता है।

भारतीय परम्परा में प्रचलित उक्ति है 'यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे' यह इसी सत्य की ओर संकेत करती है कि मानव के भीतर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की संभावनाएँ निहित हैं। अत: जीवन की कठिनाइयों से पराजित होने के स्थान पर आत्मज्ञान, आत्मसंयम और आत्मविकास की दिशा में अग्रसर होना ही वास्तविक समाधान है।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर का अद्वैत वेदान्त इक्कीसवीं शताब्दी के मानव के लिए केवल एक दार्शनिक सिद्धान्त नहीं, अपितु समग्र जीवन-दर्शन है। यह मनुष्य को भौतिक प्रगति के साथ आध्यात्मिक परिष्कार, मानसिक संतुलन, वैश्विक सद्भाव, पर्यावरणीय उत्तरदायित्व तथा आत्मबोध की दिशा प्रदान करता है।

अद्वैत हमें बाह्य विविधता में अन्तर्निहित एकता का दर्शन कराता है और यह अनुभव कराता है कि सम्पूर्ण सृष्टि एक ही परम चेतना की अभिव्यक्ति है। जब यह अनुभूति व्यवहार में उतरती है, तभी व्यक्ति, समाज और विश्व इन तीनों स्तरों पर स्थायी शान्ति, समरसता और कल्याण की स्थापना सम्भव होती है। यही आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त की शाश्वत प्रासंगिकता और उसकी वैश्विक उपादेयता है।

mdpatrika4@gmail.com

चेतना-विज्ञान की आध्यात्मिक परम्परा

(तन्त्र और मन्त्रयोग का तात्त्विक स्वरूप)

डॉ. कुन्दन कुमार
शिक्षाविद् तन्त्रविद् एवं वक्ता

भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में तन्त्र साधना-पद्धति के साथ-साथ मानव-चेतना के सर्वाङ्गीण परिष्कार का एक सुविकसित आध्यात्मिक विज्ञान है। 'तन्त्र' शब्द का अभिप्राय उस ज्ञान-प्रणाली से है जो जीवन का संरक्षण करते हुए उसकी अन्तर्निहित चेतना का विस्तार करे। इसी कारण तन्त्र का लक्ष्य केवल लौकिक सिद्धियों की प्राप्ति नहीं, अपितु अभ्युदय (ऐहिक कल्याण) और नि:श्रेयस (परम कल्याण) दोनों का समन्वित साधन है। तन्त्र की दृष्टि में साधना किसी वर्ग, सम्प्रदाय अथवा वर्ण-विशेष का अधिकार नहीं, अपितु सम्पूर्ण मानवता की आध्यात्मिक धरोहर है। वर्ण, जाति, लिङ्ग अथवा सामाजिक स्थिति के भेद से परे प्रत्येक पात्र साधक इसके अनुग्रह का अधिकारी है।

तन्त्र की एक अद्वितीय विशेषता यह है कि उसने शक्ति को ब्रह्मस्वरूपिणी मानकर आध्यात्मिक चिन्तन के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया। साथ ही, बीजमन्त्रों के माध्यम से ध्वनि, स्पन्दन और चेतना के गूढ़ सम्बन्ध का जो रहस्य उद्घाटित किया, वह भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन की अनुपम उपलब्धि है। तन्त्र के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि नादमयी है और मन्त्र उसी आद्यनाद की सघन चेतना का प्रकट स्वरूप है।

सनातन धर्म में उपासना की अनेक धाराएँ प्रवाहित होती रही हैं, किन्तु उनमें मन्त्रयोग का स्थान अत्यन्त विशिष्ट है। शास्त्र का प्रसिद्ध वचन है "मननात् त्रायते यस्मात् तस्मान्मन्त्र: प्रकीर्तित: ।"

मन्त्र के वास्तविक स्वरूप का सार प्रस्तुत करता है। मन्त्र केवल वर्णों का समूह नहीं, अपितु चेतना का सजीव स्पन्दन है। जब साधक मनन, जप और ध्यान के माध्यम से अपने अन्त:करण को मन्त्र की ध्वनि-लय के साथ एकाकार कर देता है, तब उसी से वह दिव्य शक्ति जागृत होती है जो चित्त का संस्कार कर आत्मबोध की दिशा प्रशस्त करती है। इस प्रकार मन्त्र का वास्तविक स्वरूप ध्वनि, अर्थ और चेतना के अभिन्न सामञ्जस्य में निहित है।

मन्त्रयोग का मूलाधार जप है। जप केवल मन्त्र की यान्त्रिक पुनरावृत्ति नहीं, अपितु चित्त का अखण्ड ईश्वराभिमुख प्रवाह है। इसी सत्य की प्रतिष्ठा करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है "यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।" *(गीता 10.25)*

तान्त्रिक परम्परा में भी यही उद्घोष बार-बार प्रतिध्वनित होता है "जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशय: ।"

जब जप इष्टदेव के स्वरूप, गुण और तत्त्व के ध्यान से संयुक्त होता है, तब वह साधक की अन्तर्निहित आध्यात्मिक सम्भावनाओं का क्रमश: उद्घाटन करता है। कुण्डलिनी-जागरण से लेकर ब्रह्मानुभूति तक की सम्पूर्ण साधना-यात्रा में मन्त्रजप का यही केन्द्रीय महत्त्व है।

तन्त्र-दृष्टि में गुरु, देवता और मन्त्र तीन पृथक् तत्त्व नहीं, अपितु एक ही आध्यात्मिक सत्ता के त्रिविध प्रकाश हैं। गुरु के श्रीमुख से प्राप्त मन्त्र को ही जीवित मन्त्र कहा गया है, क्योंकि उसमें गुरु-परम्परा का अनुग्रह, अनुभूति का संस्कार और शक्ति-संचार निहित रहता है। अत: गुरु-सन्निधि में सम्पन्न साधना को सर्वाधिक फलदायिनी माना गया है। साधना की सिद्धि केवल विधि-पालन का परिणाम नहीं होती; वह गुरु-कृपा, इष्टानुग्रह, साधक की पात्रता, श्रद्धा, संयम और अखण्ड साधना-निष्ठा के समन्वय से प्रस्फुटित होती है।

भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में निगम और आगम परस्पर पूरक धाराएँ हैं। यद्यपि उनकी साधना-पद्धति, प्रक्रिया और अधिकारी-भेद में कुछ वैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है, तथापि उनका परम प्रयोजन जीव को उसके वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार कराना ही है। तन्त्र की उदारता इस तथ्य में निहित है कि उसने शक्ति को सर्वोच्च आध्यात्मिक तत्त्व के रूप में

चमत्कार, प्रदर्शन या परपीड़न नहीं, अपितु आत्मशुद्धि, चित्त-परिष्कार और परमात्म-साक्षात्कार है।

साधना का पथ धैर्य, संयम, सदाचार, विनय तथा अखण्ड अभ्यास की अपेक्षा करता है। अधैर्य, दम्भ, कपट और स्वेच्छाचार साधना के सबसे बड़े अवरोध माने गए हैं। अत: शास्त्र निर्देश देता है कि साधक सदैव गुरु और शास्त्र के अनुशासन में स्थित होकर ही साधना का अनुष्ठान करे।

तान्त्रिक परम्परा में दीक्षा को सम्पूर्ण मन्त्रयोग की आधारभूमि माना गया है। दीक्षा केवल मन्त्र-प्रदान की औपचारिक प्रक्रिया नहीं, अपितु साधक की चेतना का संस्कार और आध्यात्मिक पुनर्जन्म है। अनेक तन्त्रग्रन्थों में यह प्रतिपादित है कि दीक्षा के समय गुरु में स्वयं ईश्वर का प्रकाश प्रतिष्ठित होता है; इसी कारण गुरु को साक्षात् ईश्वरतुल्य सम्मान प्रदान किया गया है। गुरु में अटूट श्रद्धा और समर्पण के बिना साधना की पूर्णता सम्भव नहीं मानी गई है।

चामुण्डातन्त्र में भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं—

पुस्तके लिखितो मन्त्रो येन सुन्दरि जप्यते।
न तस्य जायते सिद्धिर्हानिरेव पदे पदे॥

अर्थात् केवल पुस्तक में लिखे मन्त्र का स्वेच्छया जप करने से सिद्धि प्राप्त नहीं होती है; अपितु साधना में अनेक प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। तान्त्रिक परम्परा इसीलिए गुरु-दीक्षा, शक्ति-सञ्चार और परम्परागत साधना-विधि को विशेष महत्त्व प्रदान करती है।

यद्यपि विभिन्न तन्त्रग्रन्थों में न्यास, हवन, पूजन, जप तथा अनुष्ठान की विधियों में कुछ भेद दृष्टिगोचर होते हैं, तथापि उनका मूल तत्त्व सर्वत्र एक ही है। मानव-चेतना का परिष्कार और परम तत्त्व का साक्षात्कार। साधना की सिद्धि अन्तत: साधक की श्रद्धा, पात्रता, गुरु-अनुग्रह, संयम, जप, ध्यान और ईश्वर-कृपा पर अवलम्बित रहती है।

इस प्रकार तन्त्र और मन्त्रयोग भारतीय अध्यात्म की ऐसी समन्वयात्मक साधना-परम्परा हैं जिनमें लौकिक जीवन की समृद्धि और पारमार्थिक मोक्ष दोनों का अद्वैतपूर्ण समाहार निहित है। तन्त्र मनुष्य को बाह्य चमत्कारों की नहीं, अपितु अन्त:करण की दिव्यता की ओर उन्मुख करता है; और मन्त्रयोग उस दिव्यता को जागृत करने का सशक्त साधन बनकर साधक को आत्मबोध से ब्रह्मानुभूति तक की यात्रा का पथ प्रशस्त करता है।

mdpatrika4@gmail.com

प्रतिष्ठित करते हुए स्त्री को साधना के केन्द्र में सम्मानित स्थान प्रदान किया तथा समाज के प्रत्येक वर्ग को आध्यात्मिक उन्नति का अधिकारी स्वीकार किया। इस दृष्टि से तन्त्र वैदिक परम्परा का विरोध नहीं, अपितु उसके आध्यात्मिक विस्तार और व्यावहारिक विकास का द्योतक है।

तान्त्रिक परम्परा के अनुसार वेदविद्या का प्रादुर्भाव ब्रह्मा से, भक्तिविद्या का विष्णु से तथा मन्त्र एवं आगमविद्या का सदाशिव से माना गया है। शिव और शक्ति का संवाद ही तन्त्रशास्त्र का मूलाधार है, जिसमें लोकानुग्रह की भावना से साधना के विविध रहस्यों का निरूपण किया गया है। इसी कारण मन्त्रविद्या को परम गोपनीय कहा गया है— "एतद् गोप्यं महागोप्यं न देयं यस्य कस्यचित्।"

यह गोपनीयता संकीर्णता का नहीं, अपितु साधना की गरिमा, पात्रता और आध्यात्मिक उत्तरदायित्व की रक्षा का विधान है। तन्त्रग्रन्थों में मन्त्रों का प्रयोग सात्त्विक, राजस तथा तामस इन तीन भेदों में वर्णित है। निष्काम उपासना और आत्मोन्नति के लिए सात्त्विक मन्त्रों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। राजस प्रयोग विशिष्ट परिस्थितियों में सीमित प्रयोजन के लिए स्वीकार किए गए हैं, जबकि तामस अथवा अभिचारिक प्रयोग गुरु की आज्ञा, कठोर अनुशासन और विशेष पात्रता के बिना सर्वथा वर्जनीय माने गए हैं। वस्तुत: तन्त्र का वास्तविक उद्देश्य

विवाह संस्कार

आशुतोष मणि त्रिपाठी
वैदिक विद्वान्

भारतीय संस्कार-परम्परा में विवाह संस्कार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय जीवन-दृष्टि में विवाह दो जीवन-यात्राओं, दो परिवारों तथा दो उत्तरदायित्व-बोधों का पवित्र समन्वय है। विवाह के माध्यम से व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और अपने व्यक्तिगत जीवन को व्यापक पारिवारिक, सामाजिक एवं धार्मिक दायित्वों से जोड़ता है।

कुछ आचार्यों के मत से गर्भाधान प्रथम संस्कार है, जबकि कुछ आचार्यों ने विवाह को प्रथम संस्कार के रूप में स्वीकार किया है। वस्तुत: बिना विवाह के गर्भाधान श्रेयस्कर नहीं माना गया है; इसलिए विवाह को प्रथम संस्कार मानने का भी अपना औचित्य है। यदि बालक के जीवन में संस्कारों के क्रम का विचार किया जाए, तो उसके प्रथम संस्कार के रूप में गर्भाधान को स्वीकार किया जा सकता है; किन्तु दम्पती के गृहस्थजीवन के प्रारम्भ की दृष्टि से विवाह संस्कार का विशेष महत्त्व है।

विवाह दो आत्माओं का पवित्र बन्धन है। दो मनुष्य अपने पृथक्-पृथक् अस्तित्वों को व्यापक पारिवारिक एकता में समाहित करते हुए एक नवीन सम्मिलित जीवन-इकाई का निर्माण करते हैं। विवाहोपरान्त गृहस्थजीवन में प्रवेश करने पर दम्पती को अनेक गृह्यकर्म, पाकयज्ञ तथा धार्मिक-सामाजिक कर्तव्यों के निर्वहन का अवसर एवं अधिकार प्राप्त होता है। वैदिक परम्परा में अनेक यज्ञीय एवं धार्मिक अनुष्ठानों में पत्नी की सहभागिता को आवश्यक माना गया है। इसीलिए भारतीय परम्परा में गृहस्थाश्रम को धर्म, अर्थ, काम तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों के समन्वय का प्रमुख आधार माना गया है। आवसथ्याधान के प्रसंग में आचार्य कहते हैं—

आवसथ्याधानं दारकाले, दायाद्यकाले एकेषाम्।

— पारस्करगृह्यसूत्र- १.२.१–२

अर्थात् आवसथ्याग्नि का आधान विवाह के समय अथवा कुछ आचार्यों के मतानुसार दायाद-विभाजन के समय किया जाना चाहिए। इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक गृहस्थ-व्यवस्था में अग्नि, गृह, विवाह तथा पारिवारिक उत्तरदायित्वों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। इसी प्रसंग में पिता की सम्पत्ति के उत्तराधिकार एवं विभाजन का विषय भी सामने आता है। परम्परागत व्यवस्था में पिता के देहावसान के उपरान्त भाइयों के मध्य पैतृक सम्पत्ति के विभाजन की व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है।

आधुनिक भारत में विवाह, उत्तराधिकार तथा सम्पत्ति-विभाजन आदि विषयों का नियमन वर्तमान विधि एवं संविधानसम्मत व्यवस्था के अनुसार होता है। मनुस्मृति में ब्राह्म विवाह, दैव विवाह, आर्ष विवाह, प्राजापत्य विवाह, आसुर विवाह, गान्धर्व विवाह, राक्षस विवाह, पैशाच विवाह के भेद से आठ प्रकारों का उल्लेख मिलता है—

ब्राह्मो दैवस्तथैवार्ष: प्राजापत्यस्तथासुर:।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधम:॥ *मनुस्मृति ३.२१*

परम्परागत धर्मशास्त्रीय विवेचन में प्रथम चार ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य को प्रशस्त माना गया है, जबकि शेष प्रकारों का मूल्यांकन उनके स्वरूप एवं परिस्थितियों के आधार पर किया गया है। विशेषत: पैशाच विवाह को अत्यन्त निन्दित माना गया है। इन विवाह-प्रकारों का अध्ययन करते समय यह समझना आवश्यक है कि ये प्राचीन समाज की विविध वैवाहिक परिस्थितियों का धर्मशास्त्रीय वर्गीकरण हैं; आधुनिक समाज में विवाह की स्वीकृति व्यक्ति की स्वतंत्र सहमति, गरिमा, समानता और विधि के अनुरूप होनी चाहिए।

भारतीय विवाह संस्कार में अनेक महत्त्वपूर्ण कर्मों का विधान मिलता है। विभिन्न प्रदेशों, परम्पराओं और गृह्यसूत्रों के अनुसार इनके क्रम एवं स्वरूप में कुछ भिन्नताएँ भी दिखाई देती हैं। सामान्यत: विवाह में कन्यादान, हस्तपीली अथवा हाथ पीले करना, पाणिग्रहण, ग्रन्थिबन्धन, अग्निपरिक्रमा, शिलारोहण, लाजाहोम, सप्तपदी, आसनपरिवर्तन, ध्रुव अथवा सूर्यदर्शन,

वचन, सुमङ्गली अथवा सिन्दूरदान इत्यादि प्रमुख संस्कार-कर्मों किये जाते हैं। । इन सभी कर्मों का अपना विशिष्ट सांस्कृतिक एवं प्रतीकात्मक महत्त्व है। इनका सम्पादन परम्परा और शास्त्रीय विधि से परिचित विद्वान् आचार्य के निर्देशन में किया जाना अपेक्षित है, ताकि विवाह केवल सामाजिक उत्सव न रहकर अपने संस्कारात्मक उद्‌देश्य को भी पूर्ण कर सके।

कन्यादान विवाह संस्कार का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। इसे कुछ परम्पराओं में गोत्रदान से भी सम्बद्ध किया जाता है। सनातन परम्परा में विवाहोपरान्त स्त्री के गोत्र-सम्बन्ध के परिवर्तन की मान्यता अनेक परम्पराओं में रही है। गोत्र की यह व्यवस्था मूलत: वैदिक ऋषि-परम्परा, वंशपरम्परा तथा वैवाहिक सम्बन्धों की सामाजिक संरचना से जुड़ी हुई थी। कन्यादान का मूल भाव केवल किसी व्यक्ति का 'दान' करना नहीं है, अपितु माता-पिता द्वारा अपनी पुत्री के भावी जीवन के प्रति उत्तरदायित्व, विश्वास एवं मंगलकामना का संस्कारात्मक प्रकटीकरण है।

विवाह की भारतीय लोकपरम्पराओं में हाथ पीले करना अत्यन्त लोकप्रिय एवं मंगलसूचक अभिव्यक्ति है। हल्दी का प्रयोग भारतीय संस्कार-परम्परा में शुद्धि, आरोग्य, सौन्दर्य एवं मंगल का प्रतीक माना गया है। कुछ लोक-परम्पराओं में यह भी कहा जाता है कि कन्या के हाथ में आटे की लोई देकर उसमें पिता द्वारा कुछ मूल्यवान वस्तु अथवा धन रख देने की प्रथा थी। इसे गुप्त दान की परम्परा से जोड़ा जाता है। मूल लेख में उल्लिखित यह मान्यता लोकस्मृति एवं परम्परागत व्याख्या के रूप में ग्रहणीय है; इसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकार करने से पूर्व क्षेत्रीय एवं प्रामाणिक स्रोतों से इसका परीक्षण किया जाना अपेक्षित है।

पाणिग्रहण इस संस्कार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। वर द्वारा वधू का हाथ ग्रहण करना परस्पर सहयोग, संरक्षण, विश्वास एवं सहजीवन के संकल्प का प्रतीक है। इसी प्रकार ग्रन्थिबन्धन वर-वधू के जीवन के परस्पर सम्बद्ध होने का प्रतीकात्मक विधान है। दो व्यक्तियों के जीवन को एक सूत्र में बाँधने का यह भाव भारतीय विवाह-दर्शन की विशिष्ट विशेषता है। विवाह संस्कार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग सप्तपदी है। अग्नि को साक्षी मानकर वर-वधू द्वारा सात पद चलना केवल एक धार्मिक कर्मकाण्ड नहीं, अपितु सहजीवन के विविध दायित्वों और संकल्पों का प्रतीक है।

सप्तपदी के माध्यम से दम्पती जीवन में अन्न एवं जीवन-निर्वाह, शक्ति एवं स्वास्थ्य, समृद्धि, पारस्परिक सुख, परिवार एवं सन्तान, ऋतुचर्या एवं जीवन-सहयोग तथा आजीवन मैत्री एवं साहचर्य के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त करते हैं।

इसी कारण सप्तपदी को भारतीय विवाह संस्कार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्कार माना गया है।

सप्तपदी के उपरान्त परम्परा के अनुसार वधू का आसन वर के वामभाग में किया जाता है। इसका प्रतीकात्मक अर्थ यह है कि अब वह गृहस्थजीवन में वर की सहधर्मचारिणी के रूप में उसके साथ है। भारतीय परम्परा में पत्नी को केवल गृहस्थी का अंग न मानकर सहधर्मचारिणी तथा अर्धाङ्गिनी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है।

विवाह के पश्चात् वचन, आशीर्वचन तथा सुमङ्गली अथवा सिन्दूरदान जैसे कर्मों के द्वारा विवाह संस्कार को पूर्णता प्रदान की जाती है। विवाह के काल-निर्धारण के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। कुछ आचार्यों ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अनुसार कन्या की आयु के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

अष्टवर्षा भवेद् गौरी नववर्षा तु रोहिणी।
दशवर्षा भवेत् कन्या अत ऊर्ध्वं रजस्वला॥
दशमे नग्निका वा स्याद् द्वादशे वृषली स्मृता।

अपरा वृषली ज्ञेया कुमारी या रजस्वला॥
प्राप्ते तु द्वादशे वर्षे यः कन्यां न प्रयच्छति।
मासि मासि रजस्तस्याः पिता पिबति शोणितम्॥

— पारस्करगृह्यसूत्र- १.४.७, गदाधरभाष्यम्

इन श्लोकों में तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के अनुसार विवाह-काल का विचार प्रस्तुत हुआ है। तत्कालीन समाज में विवाह के पाँच अथवा सात वर्ष के अनन्तर द्विरागमन संस्कार होता था जिसके उपरान्त कन्या पति के गृह जाती थी। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र एवं स्मृतिग्रन्थ अपने-अपने ऐतिहासिक काल और सामाजिक परिस्थितियों में रचित हुए थे। अतः इनका अध्ययन ऐतिहासिक एवं शास्त्रीय सन्दर्भ में किया जाना चाहिए, न कि आधुनिक समाज के लिए अक्षरशः वैवाहिक आयु के निर्देश के रूप में। आज विवाह की आयु, सहमति, बाल-विवाह-निषेध तथा स्त्री-पुरुष की समान गरिमा आदि विषय आधुनिक भारतीय विधि द्वारा निर्धारित हैं। अतः वर्तमान समाज में विवाह संस्कार का पालन करते हुए विधिसम्मत आयु, स्वतंत्र सहमति, शिक्षा, स्वास्थ्य, गरिमा और समानता को अनिवार्य रूप से ध्यान में रखना चाहिए।

भारतीय विवाह-दर्शन का मूल उद्देश्य सहधर्मिता, पारस्परिक विश्वास, उत्तरदायित्व, परिवार-निर्माण और लोकमंगल की भावना को विकसित करना है। इसलिए विवाह को संस्कार कहा गया है। संस्कार व्यक्ति के बाह्य जीवन के साथ-साथ उसके विचार, व्यवहार और उत्तरदायित्व-बोध को भी परिष्कृत करता है।

भारतीय परम्परा में गृहस्थाश्रम को अत्यन्त महत्त्व दिया गया है, क्योंकि गृहस्थ अपने श्रम, संसाधन और उत्तरदायित्वों के माध्यम से परिवार, समाज, अतिथि, विद्यार्थी, साधु तथा अन्य आश्रमों का भी पोषण करता है। इसीलिए विवाह केवल दो व्यक्तियों का सम्बन्ध न होकर व्यापक सामाजिक व्यवस्था की आधारभूत इकाई है।

यह संस्कार भारतीय संस्कृति की अत्यन्त प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण जीवन-परम्परा है। इसमें पाणिग्रहण से लेकर सप्तपदी तक प्रत्येक कर्म के पीछे कोई न कोई सांस्कृतिक, नैतिक अथवा प्रतीकात्मक भाव निहित है। अग्नि को साक्षी मानकर लिए गए संकल्प दम्पती को यह स्मरण कराते हैं कि विवाह सहजीवन का दीर्घकालिक उत्तरदायित्व है।

आज आवश्यकता है कि विवाह संस्कार के शास्त्रीय स्वरूप को उसके मूल भाव के साथ समझा जाए तथा रूढ़ियों और अनावश्यक आडम्बरों से अलग करते हुए उसके सहधर्मिता, समानता, मैत्री, उत्तरदायित्व, परिवार-निर्माण और लोककल्याण जैसे मूल्यों को पुनः जीवन्त किया जाए।

mdpatrika4@gmail.com

मिथिला की ज्ञानपरम्परा वाहिका : भारती और भामती

डॉ. आभा झा
विदुषी अध्यापिका एवं लेखिका

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥

(मनुस्मृति ३.५६)

भारतीय ज्ञान-परम्परा का इतिहास केवल महान आचार्यों, दार्शनिकों और शास्त्रकारों की बौद्धिक उपलब्धियों का इतिहास नहीं है, अपितु उन अनाम एवं अल्पज्ञात व्यक्तित्वों का भी इतिहास है, जिन्होंने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उस परम्परा को पोषित, संरक्षित और समृद्ध किया। मिथिला भारतीय दर्शन, न्याय, मीमांसा और वेदान्त की एक महत्त्वपूर्ण भूमि रही है। यहाँ मण्डन मिश्र, वाचस्पति मिश्र, कुमारिल भट्ट तथा अनेक मनीषियों ने भारतीय चिन्तन को नई दिशाएँ प्रदान कीं। किन्तु इस उज्ज्वल परम्परा के समानान्तर ऐसी विदुषी स्त्रियाँ भी थीं, जिनका योगदान इतिहास के मुख्य प्रवाह में अपेक्षित स्थान प्राप्त नहीं कर सका।

आधुनिक मैथिली साहित्य की दो महत्त्वपूर्ण रचनाकार प्रोफेसर वीणा ठाकुर और पद्मश्री उषाकिरण खान अपने उपन्यास भारती और भामती के माध्यम से इतिहास के इसी मौन पक्ष को साहित्यिक संवेदना और ऐतिहासिक दृष्टि के साथ उद्घाटित करती हैं। ये दोनों कृतियाँ केवल ऐतिहासिक उपन्यास नहीं हैं, अपितु भारतीय ज्ञान-परम्परा में स्त्री की सक्रिय उपस्थिति का पुनर्पाठ भी हैं।

भारती उपन्यास की नायिका विदुषी भारती भारतीय बौद्धिक परम्परा में स्त्री के स्वाधीन व्यक्तित्व की प्रतिनिधि हैं। परम्परा में उनका उल्लेख मण्डन मिश्र की पत्नी तथा आदि शंकराचार्य के साथ हुए प्रसिद्ध शास्त्रार्थ की निर्णायिका के रूप में मिलता है, किन्तु वीणा ठाकुर ने उन्हें केवल ऐतिहासिक पात्र के रूप में नहीं, अपितु तर्कशक्ति, आत्मविश्वास, वैचारिक निर्भीकता और ज्ञान-साधना की सशक्त प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया है। वे यह प्रतिपादित करती हैं कि भारतीय संस्कृति में स्त्री केवल गृहस्थ जीवन की संरक्षिका नहीं थी, अपितु ज्ञान-विमर्श, दार्शनिक चिन्तन और शास्त्रार्थ की भी समान अधिकारी थी। इस प्रकार भारती भारतीय ज्ञान-परम्परा में स्त्री की बौद्धिक स्वायत्तता का सशक्त प्रतिमान बनकर उभरती हैं।

इसके विपरीत भामती की नायिका भारतीय स्त्री के उस मौन तप और अप्रकाशित साधना का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसके आधार पर अनेक महत्त्वपूर्ण बौद्धिक उपलब्धियाँ संभव हुईं। वाचस्पति मिश्र की अद्वितीय विद्वत्ता और उनके द्वारा रचित भामती टीका के पीछे भामती का निःस्वार्थ समर्पण, धैर्य, सेवा और त्याग निहित है। किंतु उषाकिरण खान भामती को केवल त्याग की प्रतिमा बनाकर नहीं छोड़तीं; वे उनके अन्तर्मन की संवेदनाओं, प्रेम, मातृत्व की आकांक्षा, एकाकीपन तथा स्त्री-सत्ता के सूक्ष्म द्वन्द्वों को अत्यन्त मार्मिक ढंग से चित्रित करती हैं। परिणामस्वरूप भामती केवल ऐतिहासिक स्मृति नहीं रहतीं, अपितु आधुनिक पाठक के अन्तर्मन से संवाद स्थापित करने वाली सजीव मानवीय सत्ता बन जाती हैं।

इन दोनों उपन्यासों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि लेखिकाएँ इतिहास पर आधुनिक विचारधाराओं का आरोपण नहीं करतीं। वे तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेश को स्वीकार करते हुए उसी के भीतर स्त्री की गरिमा, प्रतिभा और आत्मबोध को खोजती हैं। भारती संवाद, तर्क और शास्त्रार्थ के माध्यम से अपनी उपस्थिति दर्ज कराती हैं, जबकि भामती मौन सेवा, तप और आत्मसमर्पण के माध्यम से इतिहास में अमिट स्थान अर्जित करती हैं। दोनों भिन्न जीवन-दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करती हुई भी भारतीय संस्कृति के एक ही मूल्यज्ञान की साधना को प्रतिष्ठित करती हैं।

भाषा और शैली की दृष्टि से भी दोनों उपन्यास विशिष्ट

हैं। भारती की भाषा संस्कृतनिष्ठ, दार्शनिक और विचारप्रधान है, जो उसकी शास्त्रीय गरिमा को पुष्ट करती है। दूसरी ओर भामती की भाषा सहज, लोकजीवन-संलग्न तथा भावप्रवण है। उसमें मिथिला की सांस्कृतिक चेतना, लोकभाषा की आत्मीयता और स्त्री-हृदय की कोमल संवेदनाएँ अत्यन्त स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त हुई हैं। इस प्रकार दोनों कृतियाँ भाषा और शैली की भिन्नता के माध्यम से अपने-अपने पात्रों की वैचारिक और भावात्मक संरचना को प्रभावी रूप में मूर्त करती हैं।

समकालीन स्त्री-विमर्श की दृष्टि से भी इन उपन्यासों का विशेष महत्त्व है। भारती स्त्री की बौद्धिक स्वतंत्रता, वैचारिक समानता और ज्ञानाधिकार का उद्घोष करती हैं, जबकि भामती उन असंख्य स्त्रियों की प्रतिनिधि हैं जिनके मौन श्रम, समर्पण और त्याग पर सभ्यता तथा ज्ञान की अनेक उपलब्धियाँ निर्मित हुईं, परन्तु इतिहास ने उनके योगदान को अपेक्षित स्थान नहीं दिया। इस प्रकार ये दोनों उपन्यास स्त्री की दो परस्पर पूरक भूमिकाओं विचार और साधना का समन्वित चित्र प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय ज्ञान-परम्परा के मूल में यह धारणा रही है कि ज्ञान किसी एक व्यक्ति का अर्जन नहीं, अपितु सामूहिक सांस्कृतिक साधना का परिणाम है। बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी और मैत्रेयी के दार्शनिक संवाद तथा ऋग्वेद की ऋषिकाओं लोपामुद्रा, घोषा, अपाला और विश्ववारा की उपस्थिति इस तथ्य का प्रमाण है कि भारतीय परम्परा में स्त्रियाँ ज्ञान की सक्रिय संवाहक रही हैं। उसी परम्परा की मध्यकालीन कड़ी के रूप में भारती और भामती का साहित्यिक पुनर्सृजन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

अत: कहा जा सकता है कि वीणा ठाकुर और उषाकिरण खान की ये दोनों कृतियाँ केवल दो ऐतिहासिक स्त्रियों का आख्यान नहीं हैं, अपितु मिथिला की ज्ञान-परम्परा में स्त्री की सक्रिय, सर्जनात्मक और प्रेरणास्पद भूमिका का पुनर्पाठ हैं। वे यह स्थापित करती हैं कि भारतीय संस्कृति का बौद्धिक वैभव केवल पुरुष-आचार्यों का निर्माण नहीं है; उसके पीछे स्त्री की विचारशक्ति, प्रेरणा, तप, सेवा और आत्मबल का भी समान योगदान रहा है। भारती ज्ञान और तर्क की प्रज्वलित ज्योति हैं, तो भामती मौन तप और समर्पण की अखण्ड दीपशिखा। दोनों मिलकर भारतीय संस्कृति में नारी के उस गौरवपूर्ण स्थान को पुन: प्रतिष्ठित करती हैं, जिसे इतिहास ने लंबे समय तक पर्याप्त अभिव्यक्ति नहीं दी।

mdpatrika4@gmail.com

नारी-चेतना की प्रतीक लोपामुद्रा

अमिता तिवारी
भाषाध्येता एवं लेखिका

भारत का वैदिक काल भारतीय संस्कृति के उस उदात्त युग का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें नारी को भी ज्ञान, शिक्षा, चिन्तन, दर्शन, आध्यात्मिक साधना तथा वैदिक मन्त्रद्रष्टृत्व की प्रतिष्ठित भूमिका प्राप्त थी। वैदिक वाङ्मय में अनेक ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है, जो इस तथ्य की साक्षी हैं कि भारतीय परम्परा में नारी केवल परिवार और सामाजिक जीवन की सहभागी ही नहीं थी, बल्कि ज्ञान और आध्यात्मिक चेतना की अधिकारिणी भी रही है।

ऋग्वेद में घोषा, अपाला, विश्ववारा और लोपामुद्रा जैसी ऋषिकाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें लोपामुद्रा का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। वे केवल एक विदुषी ऋषिका के रूप में ही स्मरणीय नहीं हैं, बल्कि ऐसी जाग्रत नारी-चेतना की प्रतिनिधि हैं, जो अपने जीवन, दाम्पत्य, कर्तव्य, साधना और मानवीय आकांक्षाओं के विषय में निर्भीकता और प्रज्ञा के साथ अपनी बात रखती है।

परम्परागत आख्यानों में लोपामुद्रा को विदर्भराज की पुत्री तथा महर्षि अगस्त्य की पत्नी के रूप में वर्णित किया गया है। उनका जीवन पातिव्रत्य, संयम, तपस्या, कर्तव्यपरायणता और आत्मसम्मान के समन्वय का उदाहरण प्रस्तुत करता है। पति की तपस्या में सहभागी होकर उन्होंने तपस्विनी जीवन का वरण किया और अपने पति के साथ साधना एवं संयम का मार्ग अपनाया। इस प्रकार उनका जीवन पति-अनुगमन का उदाहरणमात्र नहीं है, बल्कि सहधर्मिणी के रूप में साधना में सहभागिता का भी परिचायक है।

लोपामुद्रा और अगस्त्य का सम्बन्ध वैदिक जीवन-दृष्टि में तप और गृहस्थ-धर्म के बीच संतुलन की एक महत्त्वपूर्ण दृष्टि प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 179वें सूक्त में दोनों

के मध्य संवाद मिलता है। इस सूक्त के प्रथम दो मन्त्र लोपामुद्रा के नाम से सम्बद्ध हैं। प्रथम मन्त्र में वे दीर्घकालीन तप, सेवा और बीतते हुए जीवन की ओर संकेत करते हुए कहती हैं—

पूर्वीरहं शरदः शश्रमाणा दोषा वस्तोरुषसो जरयन्तीः।
मिनाति श्रियं जरिमा तनूनामप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः॥"

— ऋग्वेदः 1.179.1

इस मन्त्र का भाव है कि अनेक वर्षों से दिन-रात की दीर्घ साधना और सेवा करते हुए जीवन आगे बढ़ गया है तथा वृद्धावस्था शरीर की शोभा को क्षीण कर रही है; अतः अब दाम्पत्य-जीवन के स्वाभाविक दायित्व की ओर भी ध्यान देना चाहिए। यहाँ लोपामुद्रा की वाणी को केवल दाम्पत्य-आग्रह के रूप में देखना उनके व्यक्तित्व को सीमित कर देना होगा। इस संवाद में वे जीवन के एक महत्त्वपूर्ण सत्य को उद्घाटित करती हैं। मानव जीवन केवल तपस्या का नाम नहीं है और न ही गृहस्थ-जीवन आध्यात्मिकता से पृथक् कोई अवस्था है। जीवन की पूर्णता तब है, जब तप, कर्तव्य, दाम्पत्य, परिवार और आध्यात्मिक साधना परस्पर संतुलित रूप में जीवन का अंग बनें।

लोपामुद्रा अपने संवाद में यह स्मरण कराती हैं कि मनुष्य शरीर, मन और आत्मा का समन्वित अस्तित्व है। उसकी आध्यात्मिक यात्रा मानवीय जीवन की स्वाभाविक आवश्यकताओं की उपेक्षा करके पूर्ण नहीं होती। इसी कारण ऋग्वैदिक संवाद में तपस्वी अगस्त्य के सम्मुख गृहस्थ-धर्म और दाम्पत्य की आवश्यकता का प्रश्न उठता है। इस दृष्टि से यह सूक्त तप और गृहस्थ-धर्म के समन्वय की एक महत्त्वपूर्ण वैदिक अभिव्यक्ति है। आधुनिक विद्वत् व्याख्याओं में भी इस संवाद को अगस्त्य की दीर्घ तपस्या और लोपामुद्रा की गृहस्थ-जीवन की अपेक्षा के मध्य संवाद के रूप में देखा गया है।

लोपामुद्रा की चेतना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि वे अपनी बात को मौन स्वीकृति के भीतर सीमित नहीं रखतीं। वे अपने जीवन और अपने अधिकारों से जुड़े प्रश्नों को स्पष्टता के साथ सामने रखती हैं। यही उन्हें वैदिक नारी-चेतना का सशक्त स्वर बनाता है। उनके व्यक्तित्व में समर्पण है, किन्तु आत्मविस्मृति नहीं; तपस्या है, किन्तु जीवन-विमुखता नहीं; पातिव्रत्य है, किन्तु विचारहीनता नहीं; और गृहस्थ-धर्म है, किन्तु आध्यात्मिकता से विच्छेद नहीं।

ऋग्वेद के इसी सूक्त में लोपामुद्रा के बाद अगस्त्य की वाणी आती है और अन्त में सूक्त का समापन प्रजा, सन्तान, बल तथा कल्याणकारी आशीर्वाद की कामना के साथ होता है। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक जीवन-दृष्टि में तप और संसार, आध्यात्मिकता और गृहस्थ-धर्म, आत्मसाधना और सामाजिक उत्तरदायित्व को परस्पर विरोधी मानने के स्थान पर उनके समुचित समन्वय की भावना विद्यमान थी। लोपामुद्रा का चरित्र हमें यह भी सिखाता है कि नारी की शक्ति केवल त्याग और सेवा में ही नहीं, बल्कि ज्ञान, विवेक, संवाद और निर्णय की क्षमता में भी निहित है। वह परिवार की धुरी होने के साथ-साथ विचार की वाहिका भी हो सकती है। वह पति की सहधर्मिणी होने के साथ-साथ स्वयं भी ज्ञानपरम्परा की प्रतिनिधि हो सकती है।

आज के समय में लोपामुद्रा की जीवन शिक्षा हमें जीवन में संतुलन का पाठ पढ़ाती हैं। आध्यात्मिकता यदि जीवन से विमुख कर दे तो वह अधूरी है और भौतिकता यदि आत्मचिन्तन से रहित हो जाए तो वह भी जीवन को पूर्णता नहीं दे सकती। मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह अपने कर्तव्य, परिवार, समाज और आत्मिक उन्नति के बीच समन्वय स्थापित करे। इस प्रकार लोपामुद्रा केवल वैदिक काल की एक ऋषिका ही नहीं हैं, बल्कि भारतीय नारी की ज्ञानमयी, विचारशील, स्वाभिमानी और आध्यात्मिक चेतना का प्रदीप्त प्रतीक हैं। उनका ऋग्वैदिक संवाद यह संदेश देता है कि जीवन की सार्थकता किसी एक पक्ष की अतिशयता में नहीं निहित है, बल्कि तप, कर्तव्य, प्रेम, गृहस्थ-धर्म और आध्यात्मिक साधना के संतुलित समन्वय में निहित है। लोपामुद्रा की वाणी आज भी भारतीय संस्कृति के उस मूल आदर्श को स्मरण कराती है, जिसमें नारी जीवन की सहयात्री के साथ-साथ ज्ञान, विचार और धर्म की सहधर्मिणी है।

mdpatrika4@gmail.com

देउर कोठार: विंध्याञ्चल में छिपी भारतीय बौद्ध धरोहर

सुलभा मिश्रा
इतिहास अध्येता

भारतीय उपमहाद्वीप का इतिहास केवल उन स्मारकों तक सीमित नहीं है जो विश्वभर में प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे पुरातात्त्विक स्थल भी हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृति, सभ्यता और आध्यात्मिक परम्पराओं के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, किन्तु आज भी वे सामान्य जनमानस की दृष्टि से लगभग ओझल हैं। मध्य प्रदेश के रीवा जिले की त्योंथर तहसील में, विंध्य पर्वतमाला के मध्य तमस नदी के समीप शांत एवं प्राकृतिक वातावरण में स्थित देउर कोठार ऐसा ही एक विलक्षण पुरातात्त्विक स्थल है, जो भारतीय इतिहास, बौद्ध संस्कृति तथा मौर्यकालीन स्थापत्य के अध्ययन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है।

सोन घाटी से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र में प्रागैतिहासिक काल से ही मानव गतिविधियाँ विद्यमान थीं। यहाँ प्रागैतिहासिक से लेकर ऐतिहासिक काल तक के अनेक शैलाश्रय (Rock Shelters) प्राप्त हुए हैं, जिनमें उत्कृष्ट शैलचित्र अंकित हैं। ये चित्र उस समय के मानव जीवन, सामाजिक व्यवहार तथा सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों का सजीव परिचय कराते हैं। इस स्थल की एक अत्यंत रोचक विशेषता चट्टानों के भीतर स्थित एक भूमिगत मार्ग भी है, जिसके बारे में माना जाता है कि वह निकटवर्ती बौद्ध मठ से जुड़ा हुआ था।

देउर कोठार की खोज का श्रेय त्योंथर के तत्कालीन सरपंच श्री अजीत सिंह तथा प्रख्यात पुरातत्त्ववेत्ता डॉ. फणीकांत मिश्र को जाता है। उनके अथक प्रयासों के फलस्वरूप यह स्थल राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा का विषय बना। सम्राट अशोक के काल में बौद्ध धर्म के प्रसार, प्राचीन व्यापारिक एवं सांस्कृतिक मार्गों तथा विंध्य क्षेत्र की ऐतिहासिक भूमिका को समझने के लिए देउर कोठार का अध्ययन अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

डॉ. फणीकांत मिश्र के अनुसार इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म का अत्यंत व्यापक विकास हुआ था। यहाँ से प्राप्त विशाल स्तूप, मठ एवं अन्य अवशेष इस तथ्य के प्रमाण हैं कि कभी यहाँ बड़ी संख्या में बौद्ध भिक्षुओं का निवास स्थान होता था। उत्खनन के दौरान अनेक भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं, जिनमें लगभग तीस खंडों में विभाजित एक विशाल स्तम्भ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इससे यह संकेत मिलता है कि किसी कालखंड में इस बौद्ध केन्द्र का विनाश किया गया होगा।

डॉ. मिश्र का मत है कि यह विनाश सम्भवत: शुंगकाल के दौरान हुआ है। कुछ ऐतिहासिक मान्यताओं के अनुसार पुष्यमित्र शुंग के शासनकाल में अनेक बौद्ध विहारों एवं स्तूपों को क्षति पहुँचाई गई। देउर कोठार से प्राप्त भग्नावशेषों तथा स्तम्भों पर अग्नि एवं धुएँ के चिह्न इस संभावना की ओर

संकेत करते हैं। यद्यपि इस विषय पर इतिहासकारों के मध्य विभिन्न मत विद्यमान हैं, तथापि उत्खनन से प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्य इस स्थल पर किसी व्यापक विनाशकारी घटना की ओर अवश्य संकेत करते हैं।

उत्खनन में तीन प्रकार की ईंटें प्राप्त हुई हैं कच्ची, अर्धपकी तथा पूर्णत: पकी हुई। इनका आकार एवं निर्माण-शैली मौर्यकालीन ईंटों से पर्याप्त समानता रखती है, जिससे इस स्थल की प्राचीनता और अधिक पुष्ट होती है।

यहाँ स्थित बौद्ध स्तूपों में स्तूप संख्या-1 विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसके समीप अन्य वास्तुशिल्पीय अवशेषों के साथ एक खंडित प्रस्तर-स्तम्भ का भाग प्राप्त हुआ है, जिसकी शैली सांची तथा सारनाथ के अशोक स्तम्भों की स्मृति कराती है। रेलिंग के स्तम्भों तथा क्रॉस-बारों पर उत्कीर्ण अलंकरणों में गोलाकार कमल, शंक्वाकार पुष्प-कलियाँ, झुका हुआ कमल, पूर्णकुंभ जैसे रूपांकन भारतीय शिल्पकला की उत्कृष्टता का परिचय देते हैं।

वर्ष 1982 में, जब डॉ. फणीकांत मिश्र भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, भोपाल में पुरातत्त्वविद् के रूप में कार्यरत थे, तब उन्होंने इस स्थल की खोज की। प्रारम्भ में उन्हें भी इसकी वास्तविक प्राचीनता का अनुमान नहीं था, किन्तु उत्खनन के दौरान प्राप्त अवशेषों ने इसे भारतीय पुरातत्त्व के अत्यंत महत्वपूर्ण स्थलों की श्रेणी में स्थापित कर दिया।

देउर कोठार से स्तम्भों पर उत्कीर्ण दो महत्त्वपूर्ण ब्राह्मी शिलालेख भी प्राप्त हुए हैं। प्रसिद्ध अभिलेखविद् रिचर्ड सोलोमन तथा ज्योसेफ मेरिनो ने इन शिलालेखों को दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का माना है। लंदन के पुरातत्त्व संस्थान की विदुषी जूलिया शॉ सहित अनेक पुरातत्त्वविदों एवं मुद्राशास्त्रियों ने भी इन अभिलेखों का काल निर्धारण दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारम्भिक चरण में किया है।

इसी स्थल से एक मौर्यकालीन स्तम्भ के अबेकस का खंडित भाग भी प्राप्त हुआ है, जिस पर चक्र तथा एक पशु की आकृति उत्कीर्ण है। इसकी विशिष्ट मौर्यकालीन चमकदार पॉलिश (Mauryan Polish) यह संकेत देती है कि यह सम्भवत: अशोककालीन स्तम्भ का ही भाग रहा होगा।

देउर कोठार से अब तक लगभग 32 लघु बौद्ध स्तूपों की पहचान की जा चुकी है। यह संख्या इस क्षेत्र के एक अत्यंत समृद्ध बौद्ध धार्मिक एवं शैक्षिक केन्द्र होने का प्रमाण प्रस्तुत करती है। यहाँ के स्तूप, विहार, शिलालेख, स्तम्भ तथा अन्य स्थापत्य अवशेष संयुक्त रूप से इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि यह स्थल कभी बौद्ध संस्कृति का एक प्रमुख केन्द्र रहा होगा।

प्राकृतिक दृष्टि से भी देउर कोठार अनुपम सौन्दर्य से परिपूर्ण है। विंध्याचल की नीरव पर्वतमालाओं और तमस नदी की सुरम्य धारा के मध्य स्थित यह स्थल आज भी उस स्वर्णिम युग की मौन गाथा सुनाता प्रतीत होता है, जब इस भूमि पर धर्म, ज्ञान, शिक्षा और संस्कृति का दिव्य आलोक प्रस्फुटित हुआ था।

देउर कोठार हमें यह स्मरण कराता है कि इतिहास केवल ग्रंथों के पृष्ठों में ही सुरक्षित नहीं रहता है, अपितु वह मिट्टी की प्रत्येक परत, प्रत्येक ईंट, प्रत्येक शिलालेख और प्रत्येक पुरावशेष में जीवित रहता है। आवश्यकता केवल उसे संवेदनशील दृष्टि से समझने, वैज्ञानिक ढंग से संरक्षित करने तथा उसकी अमूल्य विरासत को आने वाली पीढ़ियों तक सुरक्षित पहुँचाने की है। देउर कोठार न केवल मध्य प्रदेश की धरोहर है, अपितु यह सम्पूर्ण भारतीय सांस्कृतिक चेतना का एक अमूल्य अध्याय है, जिसे वैश्विक स्तर पर अपेक्षित पहचान मिलना अभी शेष है।

mdpatrika4@gmail.com

समाज और सरोकार

शिवत्व का साधक है श्रावणमास

आचार्य राजबहोर मिश्र (शास्त्री जी)
ज्योतिषाचार्य विद्वान्

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च।
नमः शङ्कराय च मयस्कराय च।
नमः शिवाय च शिवतराय च॥

श्रावण का नाम लेते ही मन में शिवालयों में गूँजता "हर हर महादेव", कांवड़ियों की आस्था, शिवलिंग पर अर्पित जल और बिल्वपत्र, रुद्राभिषेक, महामृत्युंजय मंत्र तथा मंदिरों में होने वाली पूजा-अर्चना के दृश्य उभर आते हैं। किंतु श्रावण की महत्ता केवल इन धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित नहीं है। यह मास हमें त्याग, तप, संयम, करुणा, प्रकृति-संरक्षण और समष्टि के कल्याण का जीवन-दर्शन प्रदान करता है। भारतीय संस्कृति में पर्व केवल उत्सव के अवसर नहीं हैं, अपितु वे जीवन को प्रकृति, अध्यात्म और लोकमंगल से जोड़ने वाले सांस्कृतिक सेतु हैं। श्रावण मास ऐसा ही एक पवित्र अवसर है, जो सम्पूर्ण भारतीय जीवन में भगवान शिव की आराधना, आत्मसंयम, साधना और लोककल्याण की भावना को जागृत करता है। वर्षा ऋतु के आगमन के साथ आने वाला यह मास प्रकृति के नवजीवन और मनुष्य के अंतर्जगत के परिष्कार दोनों का संदेश देता है।

शिव कल्याण के सनातन प्रतीक हैं। भगवान शिव का स्वरूप भारतीय चिंतन में अत्यंत व्यापक और बहुआयामी है। वे शम्भु हैं। कल्याण के स्रोत; शंकर हैं। शं अर्थात् कल्याण करने वाले हैं और महादेव हैं देवों के भी देव। वैदिक रुद्राध्याय में प्रार्थना की गई है— "नमः शम्भवाय च मयोभवाय च। नमः शङ्कराय च मयस्कराय च। नमः शिवाय च शिवतराय च॥"

यह मंत्र शिव के कल्याणकारी स्वरूप का अद्भुत उद्घोष है। यहाँ शिव किसी एक समुदाय या संप्रदाय मात्र के आराध्य नहीं हैं, अपितु समस्त चराचर जगत के मंगल के अधिष्ठाता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उनकी जटाओं में गंगा हैं तो मस्तक पर चन्द्रमा; कंठ में विष है तो शरीर पर भस्म; गले में सर्प है तो वाहन नंदी; वे कैलासवासी योगी हैं और साथ ही पार्वती-पति तथा गणेश-कुमार के पिता भी हैं। शिव का यह समन्वित स्वरूप हमें सिखाता है कि जीवन में वैराग्य और गृहस्थधर्म, तप और करुणा, शक्ति और शांति, प्रकृति और पुरुष सभी का संतुलन आवश्यक है। शिवोपासना की भावना को व्यक्त करता यह प्रसिद्ध स्तोत्रांश अत्यंत प्रेरक है—

करचरणकृतं वाक्कायजं कर्मजं वा
श्रवणनयनजं वा मानसं वापराधम्।
विहितमविहितं वा सर्वमेतत् क्षमस्व
जय जय करुणाब्धे श्रीमहादेव शम्भो॥

अर्थात् हाथ-पैर, वाणी, शरीर, कर्म, कान, नेत्र अथवा मन से जाने-अनजाने जो भी अपराध हुए हों, हे करुणासागर महादेव! उन सभी को क्षमा करें। यह प्रार्थना हमें आत्मनिरीक्षण की ओर ले जाती है। शिव के समक्ष केवल पुष्प और जल अर्पित करना पर्याप्त नहीं है, अपने दोषों, अहंकार, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या और कटुता का परित्याग करना आत्म-अभिषेक है।

श्रावण मास में शिवलिंग पर जल चढ़ाने की परंपरा अत्यंत प्राचीन और व्यापक है। जल जीवन का मूल तत्व है। वर्षा ऋतु में जब धरती नवजीवन प्राप्त

करती है, तब शिव पर जल अर्पित करना एक पूजा-विधि के साथ-साथ जीवनदायिनी प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का संस्कार भी माना जाता है।

रुद्राभिषेक में जल, दुग्ध, दधि, घृत, मधु आदि से अभिषेक की परंपराएँ विभिन्न स्थानों पर प्रचलित हैं। इनके पीछे श्रद्धा और प्रतीकात्मकता दोनों हैं। अभिषेक करते समय मनुष्य अपने भीतर के अहंकार, क्रोध, लोभ और अशांति को भी शिवचरणों में समर्पित करने का संकल्प करता है। इस दृष्टि से वास्तविक रुद्राभिषेक तभी पूर्ण है जब शिवलिंग पर जल के साथ हमारे भीतर का अहंकार भी अर्पित हो और पूजा के पश्चात् हमारे आचरण में शिवत्व दिखाई दे। महामृत्युञ्जय-मन्त्र की यह पावन ऋचा श्रावण-साधना को आध्यात्मिक गहराई प्रदान करती है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥

यह मन्त्र जीवन में भय के स्थान पर विश्वास, अस्थिरता के स्थान पर धैर्य और मृत्यु-बोध के स्थान पर अमृतत्व की आध्यात्मिक आकांक्षा जागृत करता है।

श्रावण मास के सोमवार विशेष रूप से भगवान शिव को समर्पित माने जाते हैं। श्रद्धालु इस दिन व्रत रखते हैं, शिवालयों में दर्शन करते हैं, रुद्राभिषेक करते हैं तथा मंत्र-जप और ध्यान करते हैं। सोमवार की साधना का एक सुंदर संदेश यह भी है कि सप्ताह में कम-से-कम एक दिन व्यक्ति अपने जीवन की गति को कुछ क्षणों के लिए रोककर अपने भीतर झाँके, आत्मचिन्तन करे शिवत्व की ओर अग्रसर हो। पूजा के माध्यम से वह स्वयं से प्रश्न पूछे कि क्या मेरे व्यवहार में करुणा बढ़ रही है? क्या मेरे भीतर क्रोध कम हो रहा है? क्या मैं प्रकृति के प्रति संवेदनशील हूँ? क्या मैं अपने परिवार और समाज के प्रति अपने दायित्वों को समझ रहा हूँ? क्या मेरे कर्म लोककल्याण की दिशा में जा रहे हैं? यदि इन प्रश्नों के उत्तर सकारात्मक दिशा में बढ़ते हैं, तो हमें समझना चाहिए की हमारी शिव-साधना सार्थक है।

भगवान शिव के नीलकंठ स्वरूप में मानव जीवन के लिए अत्यंत गहरा संदेश छिपा है। समुद्र-मंथन से निकले विष को जब समस्त सृष्टि के लिए संकट उत्पन्न हुआ, तब शिव ने उसे अपने कंठ में धारण किया। यह प्रसंग हमें सिखाता है कि समाज और संसार में अनेक प्रकार की नकारात्मकताएँ होती हैं। एक श्रेष्ठ मनुष्य वह है जो दूसरों के लिए विष का प्रसार न करके अपने भीतर धैर्य, विवेक और करुणा का विकास करे। इसका अर्थ यह नहीं कि अन्याय या विषमता को चुपचाप सहन किया जाए; अपितु यह है कि हम नकारात्मकता का उत्तर स्वयं नकारात्मक बनकर न दें। शिव का नीलकंठ हमें विष को नियंत्रित करने, उसे फैलने से रोकने और लोकमंगल के लिए अपनी शक्ति लगाने की प्रेरणा देता है।

श्रावण प्रकृति के उल्लास का भी मास है। आकाश में बादल, वर्षा की फुहार, हरियाली, नदियों में बढ़ता जल और वनस्पतियों का प्रस्फुटन सभी मिलकर प्रकृति के पुनर्जन्म का दृश्य प्रस्तुत करते हैं। भगवान शिव का स्वरूप स्वयं प्रकृति से गहरे जुड़ा हुआ है। वे कैलास के योगी हैं, वनवासी हैं, पशुपतिनाथ हैं। उनके साथ नंदी, सर्प, गंगा, चन्द्रमा और पर्वत प्रकृति के विभिन्न रूप जुड़े हैं। इसलिए श्रावण में शिव की आराधना का एक आधुनिक और अत्यंत आवश्यक आयाम पर्यावरण संरक्षण भी है। जल बचाना, वृक्ष लगाना, नदियों को स्वच्छ रखना, प्लास्टिक का कम उपयोग करना और जीव-जंतुओं के प्रति करुणा रखना ये सब शिव-भक्ति के व्यावहारिक रूप हैं।

यह भावना शिव के लोकमंगलकारी स्वरूप से पूर्णतः सामंजस्य रखती है। शिव का अर्थ ही है कल्याण। अतः शिव की आराधना हमें अपने सुख से आगे बढ़कर परिवार, समाज, राष्ट्र और समस्त सृष्टि के कल्याण की ओर ले जाती है।

भारतीय संस्कृति का यही वैशिष्ट्य है कि यहाँ प्रार्थना का अंतिम लक्ष्य केवल "मेरा कल्याण" नहीं है, अपितु हमारा लक्ष्य हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

यह सर्वभूतहित व्यापक भावना हमारी प्रार्थना है। शिव की आराधना हमें इसी समष्टिगत चेतना से जोड़ती है।

आज मनुष्य भौतिक उपलब्धियों के बीच मानसिक तनाव, सामाजिक असंतुलन, पर्यावरणीय संकट और पारिवारिक विघटन जैसी अनेक चुनौतियों से जूझ रहा है। ऐसे समय में श्रावण का संदेश और भी प्रासंगिक हो जाता है। श्रावण का पर्व हमें स्वयं को देखने, प्रकृति से जुड़ने, संयम अपनाने और अपने जीवन को लोककल्याण से जोड़ने का अवसर प्रदान करता है।

वर्षा ऋतु जब धरती को शीतल करती है, तब शिव-आराधना मनुष्य के अंतर्मन को शीतल करने का संदेश देती है। शिव पर चढ़ाई गई प्रत्येक जलधारा हमें स्मरण कराती है कि हमारा जीवन भी किसी बड़े उद्देश्य के लिए समर्पित हो। शिव की तीसरी आँख केवल विनाश का प्रतीक नहीं है; वह अज्ञान के विनाश और विवेक के जागरण का प्रतीक भी है। डमरू सृजन की ध्वनि है, त्रिशूल जीवन के संतुलन और तीन गुणों पर नियंत्रण का प्रतीक माना जाता है और भस्म हमें जीवन की नश्वरता का बोध कराती है। अतः श्रावण मास मंदिर जाकर शिव सानिध्य प्राप्तकर अपने भीतर शिवत्व जगाने का अवसर प्रदाता है। ॐ नमः शिवाय।

mdpatrika4@gmail.com

रोगनिदान में ज्योतिषीय संकेत एवं योग की भूमिका

डॉ. सरित् शर्मा
ज्योतिषाचार्य एवं संस्कृत शिक्षक

उत्तम स्वास्थ्य मनुष्य के सुखी, सक्रिय एवं संतुलित जीवन का आधार है। शरीर स्वस्थ होने पर ही व्यक्ति अपने सामाजिक, पारिवारिक, व्यावसायिक एवं आध्यात्मिक दायित्वों का समुचित निर्वहन कर सकता है। भारतीय ज्ञान-परम्परा में शरीर और मन के स्वास्थ्य को केवल वर्तमान रोग की अवस्था से नहीं, बल्कि व्यक्ति की प्रकृति, जीवनशैली, आहार-विहार तथा विभिन्न सूक्ष्म कारणों के संदर्भ में भी समझने का प्रयास किया गया है। ज्योतिषशास्त्र में जन्मकुण्डली के ग्रहों, भावों, राशियों तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर व्यक्ति की विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक प्रवृत्तियों का विचार किया जाता है। वहीं योगशास्त्र शरीर, प्राण और मन के संतुलन को बनाए रखने के लिए आसन, प्राणायाम, ध्यान एवं मुद्राओं का मार्ग प्रस्तुत करता है। इस दृष्टि से ज्योतिष और योग का समन्वित अध्ययन स्वास्थ्य-संरक्षण के एक पारम्परिक दृष्टिकोण के रूप में महत्वपूर्ण हो सकता है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि ज्योतिषीय विश्लेषण को आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के विकल्प के रूप में नहीं, बल्कि स्वास्थ्य-जागरूकता एवं जीवनशैली के सहायक दृष्टिकोण के रूप में देखा जाना चाहिए। वैदिक ज्योतिष में सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि को शरीर तथा जीवन के विभिन्न अंगों से सम्बद्ध माना गया है। ग्रहों का बल, स्थिति, दृष्टि, युति तथा जन्मकुण्डली के रोगभावों से सम्बन्ध व्यक्ति की स्वास्थ्य-सम्बन्धी प्रवृत्तियों के अध्ययन में उपयोग किया जाता है। वैदिक ज्योतिष शास्त्र में प्रत्येक अंग के प्रतिनिधि भूतकारक ग्रह स्व बलानुसार अंगों में विकार और पुष्टता प्रदान करते हैं। जन्म कुण्डली में यदि सूर्यादि ग्रह बलहीन तथा पापग्रह युक्त हो तो अपने प्रतिनिधित्व कारक अगों में निश्चित रूप से विकार उत्पन्न करते है। जो कुछ समय पश्चात व्याधि का रूप लेकर शरीर को कष्ट प्रदान करता हैं, किन्तु यदि व्यक्ति की कुण्डली में स्थित रोगकारक ग्रहों को पूर्व में ही जानकर उन ग्रहों से प्रभावित अंगों को योग शास्त्रोक्त प्राणायाम, आसन मुद्रादि से पुष्टकर लिया जाए तो निश्चत रूप से व्यक्ति रोगमुक्त होकर आजीवन स्वास्थ्य लाभ पा सकता है। योग शास्त्रानुसार कोई भी रोग शारीरिक अंग की निर्बलता के कारण होता है, तथा आसन अपनी खिंचाव पद्धति के आधार पर उनसे संबन्धित नसों को मजबूत बना देता है। जिससे उस अंग में शक्ति बढती है तथा शक्ति के विकास के साथ-साथ रोगों का नाश होता है। जिससे व्यक्ति स्वस्थ, निरोग और दीर्घजीवी बन सकता है। इस प्रकार ज्योतिषीय अध्ययन का उद्देश्य केवल रोग बताना नहीं, बल्कि संभावित संवेदनशीलताओं को समझकर व्यक्ति को अपने आहार-विहार, दिनचर्या, व्यायाम और योगाभ्यास के प्रति अधिक सजग बनाना भी हो सकता है। योगशास्त्र में शरीर को स्वस्थ एवं संतुलित रखने के लिए विभिन्न आसनों, प्राणायाम, मुद्राओं और ध्यान-पद्धतियों का वर्णन मिलता है। नियमित एवं उचित योगाभ्यास से शरीर में लचीलापन, मांसपेशियों की कार्यक्षमता, श्वसन-क्षमता तथा मानसिक शान्ति में सहायता मिल सकती है। आसन शरीर के विभिन्न भागों पर खिंचाव, संकुचन एवं स्थिरता के माध्यम से कार्य करते हैं। प्राणायाम श्वास-प्रश्वास को व्यवस्थित करने में सहायक होता है, जबकि ध्यान मानसिक एकाग्रता एवं तनाव-प्रबन्धन में उपयोगी माना जाता है। अत: यदि ज्योतिषीय अध्ययन के माध्यम से किसी व्यक्ति की स्वास्थ्य-सम्बन्धी संवेदनशीलताओं की पारम्परिक दृष्टि से पहचान की जाए, तो उसके अनुरूप सुरक्षित योगाभ्यास एवं स्वस्थ जीवनशैली अपनाने की प्रेरणा दी जा सकती है। ज्योतिषशास्त्र के आधार पर व्यक्ति की जन्म कुण्डली में स्थित सूर्यादि ग्रहों के बलहीन होने पर प्रभावित अंग तथा उन शारीरिक अंगों को पुष्ट करने के लिए योगशास्त्रोक्त आसन एवं मुद्राएँ।

1. सूर्य

परम्परागत ज्योतिष में सूर्य को आत्मबल, जीवनशक्ति, अस्थि-तंत्र, हृदय एवं नेत्रों से सम्बद्ध माना जाता है। यदि जन्म कुण्डली में सूर्य पीडित हो तो उपरोक्त अंगों में निर्बलता अवश्य लाता

है। अत: व्यक्ति को सूर्यनमस्कार, ताड़ासन, पवनमुक्तासन, शवासन, सिद्धासन अवश्य करने चाहिए। सूर्य से सम्बन्धित स्वास्थ्य-विचार में शरीर की ऊर्जा, सक्रियता तथा नियमित दिनचर्या पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

2. चन्द्र

चन्द्रमा का सम्बन्ध मन, भावनाओं, मानसिक शान्ति तथा पारम्परिक मतानुसार शरीर के द्रव-सन्तुलन एवं श्वसन तंत्र से जोड़ा जाता है। चन्द्र से सम्बन्धित स्थिति में मानसिक शान्ति, पर्याप्त नींद और तनाव-नियन्त्रण को विशेष महत्व दिया जाता। यदि जन्म कुण्डली में चन्द्र पीडित हो तो उपरोक्त अंगों में निर्बलता अवश्य लाता है। अत: व्यक्ति को वज्रासन, सिद्धासन, योगमुद्रासन, खगासन, सर्वांगासन, भ्रामरी प्राणायाम, शवासन तथा नाड़ीशोधन जैसे योगाभ्यास अवश्य करने चाहिए।

3. मंगल

मंगल को शक्ति, मांसपेशियों, रक्त, साहस तथा शारीरिक सक्रियता से सम्बद्ध माना जाता है। यदि जन्म कुण्डली में मंगल निर्बल हो तो उपरोक्त अंगों में निर्बलता अवश्य लाता है। मंगल से सम्बन्धित स्वास्थ्य-विचार में शारीरिक सक्रियता के साथ-साथ अति-परिश्रम एवं चोट से बचाव पर भी ध्यान देना चाहिए। कुण्डली में मंगल के निर्बल होने पर व्यक्ति को अपनी दिनचर्या में शीर्षासन, भुजंगासन, हलासन, जानुशिरासन, सर्वांगासन, प्रज्ञायोग, तथा उत्तानपादासन आदि अवश्य करने करने चाहिए।

4. बुध

बुध को त्वचा, स्नायु-तंत्र, कंठ, भुजाओं तथा तंत्रिका-सम्बन्धी कार्यों से सम्बद्ध माना जाता है। बुध से सम्बन्धित स्वास्थ्य-विचार स्थिति में मानसिक एकाग्रता, श्वास की सजगता तथा तनाव-प्रबन्धन में उपयोगी जीवनशैली से विशेष ध्यान देना चाहिए। इसके साथ ही प्रज्ञायोग, सुप्तवज्रास्न, भुजंगासन, चक्रासन, सर्पासन, योगमुद्रासन, मत्स्यासन, नाड़ीशोधन तथा भ्रामरी प्राणायाम अवश्य करें।

5. गुरु

गुरु का सम्बन्ध पारम्परिक ज्योतिष में यकृत, पाचन-तंत्र, चयापचय तथा शरीर में पोषण एवं वृद्धि से जोड़ा जाता है। गुरु से सम्बन्धित स्वास्थ्य-विचार में संतुलित आहार, उचित वजन, नियमित व्यायाम तथा पाचन-स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिया जा सकता है। गुरू प्रभावित व्यक्ति को इससे से सम्बद्ध योगाभ्यास लतासन, यानासन, शीर्षासन, पवनमुक्तासन, भुजंगासन, अर्धमत्स्येन्द्रासन, शीर्षासन, पश्चिमोत्तानासन तथा वीरभद्रासनादि अवश्य करने चाहिए।

6. शुक्र

शुक्र को नेत्र, प्रजनन-तंत्र, मूत्र-तंत्र, किडनी तथा शरीर की प्रजनन क्षमता से सम्बन्धित माना जाता है। शुक्र से सम्बन्धित स्वास्थ्य-विचार में पर्याप्त जल, संतुलित आहार, व्यक्तिगत स्वच्छता तथा नियमित जीवनचर्या महत्वपूर्ण हैं। शुक्र से सम्बद्ध योगाभ्यास में

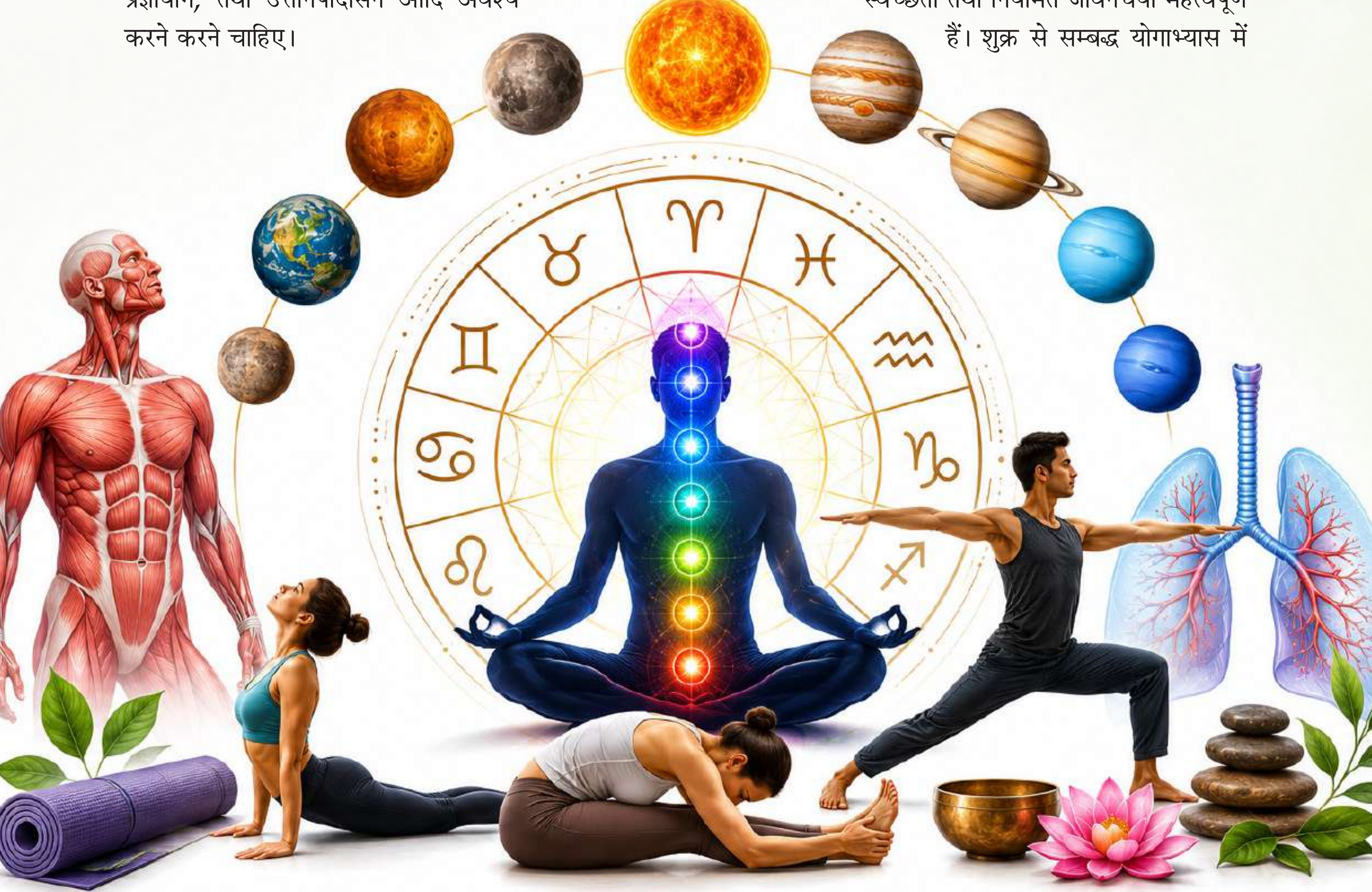

शीर्षासन, प्रज्ञायोग, वज्रासन, योगमुद्रासन, नाभि आसन, भुजंगासन, सुप्तवज्रास्न, ताड़ासन अवश्य दिनचर्या में प्रयोग करें।

7. शनि

शनि को पारम्परिक ज्योतिष में अस्थि, जोड़, घुटने, स्नायु तथा शरीर की दीर्घकालिक संरचनात्मक समस्याओं से जोड़ा जाता है। शनि से सम्बन्धित स्वास्थ्य-विचार में नियमित हल्का व्यायाम, शरीर का लचीलापन बनाए रखना तथा उम्र एवं शारीरिक क्षमता के अनुरूप योगाभ्यास करना महत्वपूर्ण है। शनि से सम्बद्ध योगाभ्यास में ताड़ासन, साइकिल संचालन पवनमुक्तासन, शशांकासन तथा हल्के स्ट्रेचिंग अभ्यास अवश्य करने चाहिए।

8 राहु

वैदिक ज्योतिष में राहु को छाया ग्रह माना गया है। पारम्परिक स्वास्थ्य-विचार में राहु का सम्बन्ध अनियमितता, विषाक्त प्रभाव, वातजन्य प्रवृत्तियों, तंत्रिका-तंत्र, त्वचा तथा मानसिक अस्थिरता जैसी स्थितियों से जोड़ा जाता है। राहु की प्रकृति को अचानक उत्पन्न होने वाली अथवा असामान्य स्वास्थ्य-प्रवृत्तियों से भी सम्बन्धित माना गया है। सम्बद्ध शारीरिक एवं मानसिक क्षेत्र: तंत्रिका-तंत्र, त्वचा, श्वसन-सम्बन्धी क्षेत्र, वात-प्रवृत्तियाँ तथा मानसिक तनाव। सम्बद्ध योगाभ्यास: नाड़ीशोधन प्राणायाम, भ्रामरी प्राणायाम, वज्रासन, शशांकासन, शवासन एवं ध्यान। राहु से सम्बन्धित ज्योतिषीय विचार में मानसिक तनाव को कम करना, नियमित दिनचर्या अपनाना, पर्याप्त नींद लेना तथा नशे एवं असंयमित जीवनशैली से बचना विशेष रूप से उपयोगी माना जा सकता है। प्राणायाम एवं ध्यान का अभ्यास मन को स्थिर एवं एकाग्र रखने में सहायक हो सकता है।

9. केतु

केतु को भी छाया ग्रह माना जाता है और ज्योतिषीय परम्परा में इसे वैराग्य, सूक्ष्मता, पृथक्करण तथा आकस्मिक घटनाओं का कारक माना गया है। स्वास्थ्य-विचार में केतु का सम्बन्ध तंत्रिका-तंत्र, त्वचा, सूक्ष्म संवेदनाओं तथा शरीर में अचानक उत्पन्न होने वाली असुविधाओं से जोड़ा जाता है। सम्बद्ध शारीरिक एवं मानसिक क्षेत्र: तंत्रिका-तंत्र, त्वचा, संवेदनात्मक तंत्र तथा शरीर की सूक्ष्म क्रियाएँ। सम्बद्ध योगाभ्यास नाड़ीशोधन प्राणायाम, भ्रामरी, सिद्धासन, योगमुद्रासन, शवासन तथा ध्यान। केतु से सम्बन्धित स्थिति में नियमित ध्यान, मानसिक एकाग्रता, संतुलित दिनचर्या तथा शरीर के प्रति सजगता उपयोगी हो सकती है। योगाभ्यास में अत्यधिक कठिन आसनों की अपेक्षा सरल, स्थिर एवं नियंत्रित अभ्यासों को प्राथमिकता देना उचित है।

ज्योतिष व्यक्ति की जन्मकुण्डली के आधार पर स्वास्थ्य की संभावित संवेदनशीलताओं का पारम्परिक संकेत दे सकता है, जबकि योग शरीर एवं मन को संतुलित रखने के लिए व्यावहारिक अनुशासन प्रदान करता है। इस प्रकार दोनों का समन्वय व्यक्ति को अपने स्वास्थ्य के प्रति अधिक सजग बनाने में सहायक हो सकता है। उदाहरण के लिए, यदि किसी जातक की कुण्डली में किसी विशेष ग्रह की स्थिति पारम्परिक ज्योतिषीय सिद्धान्तों के अनुसार कमजोर मानी जाती है, तो उस ग्रह से सम्बन्धित शारीरिक क्षेत्र के प्रति जागरूकता बढ़ाई जा सकती है। इसके साथ उचित योगाभ्यास, प्राणायाम, संतुलित आहार, पर्याप्त नींद और नियमित दिनचर्या अपनाने की सलाह दी जा सकती है। यहाँ यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि जन्मकुण्डली के आधार पर किसी रोग का निश्चित निदान या भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। किसी भी शारीरिक अथवा मानसिक लक्षण की स्थिति में योग्य चिकित्सक से परामर्श और आवश्यक चिकित्सकीय जाँच सर्वोपरि है। इसी प्रकार योगाभ्यास भी व्यक्ति की आयु, शारीरिक क्षमता और स्वास्थ्य-स्थिति के अनुसार प्रशिक्षित योग विशेषज्ञ के मार्गदर्शन में किया जाना चाहिए। किसी रोग के उपचार के लिए चिकित्सकीय उपचार को रोककर केवल ज्योतिषीय उपाय या योग पर निर्भर रहना उचित नहीं है। भारतीय परम्परा में ज्योतिष और योग दोनों का उद्देश्य मानव जीवन को अधिक संतुलित एवं जागरूक बनाने से जुड़ा रहा है। ज्योतिषीय दृष्टि से ग्रहों एवं भावों के माध्यम से स्वास्थ्य की संभावित संवेदनशीलताओं का अध्ययन किया जा सकता है, जबकि योग शरीर, प्राण और मन के संतुलन के लिए अनुशासित अभ्यास प्रदान करता है। अत: ज्योतिषीय स्वास्थ्य-विचार, योगाभ्यास, संतुलित आहार-विहार एवं आधुनिक चिकित्सा को एक समेकित दृष्टिकोण के रूप में देखा जाना चाहिए। इस दृष्टिकोण का मूल उद्देश्य व्यक्ति को अपने स्वास्थ्य के प्रति पहले से सजग, अनुशासित और जिम्मेदार बनाना है। परम्परागत ज्योतिषीय मान्यता के अनुसार यदि किसी ग्रह की स्थिति कमजोर हो अथवा वह अशुभ प्रभावों से पीड़ित हो, तो उससे सम्बद्ध शारीरिक अंगों में संवेदनशीलता या कमजोरी की सम्भावना मानी जाती है। इसके विपरीत शुभ ग्रहबल तथा अनुकूल योग शरीर की प्रतिरोधक क्षमता एवं स्वास्थ्य के लिए सकारात्मक संकेत माने जाते हैं।

mdpatrika4@gmail.com

जीवन में जन्मकुंडली की प्रासंगिकता

आचार्या दीप्ति चतुर्वेदी
ज्योतिष विदुषी, कुण्डली विशेषज्ञ

भारतीय ज्योतिष-परम्परा में नवग्रह, बारह राशियाँ, बारह भाव, नक्षत्र, दशाएँ, गोचर तथा विभिन्न योगों का विशेष महत्त्व माना गया है। जन्म के समय आकाशीय पिण्डों की स्थिति के आधार पर निर्मित जन्मकुंडली को व्यक्ति के जीवन का एक प्रकार का ज्योतिषीय मानचित्र माना जाता है। कुंडली को केवल भविष्य बताने वाले साधन के रूप में देखना उसके व्यापक स्वरूप को सीमित कर देना होगा। परम्परागत दृष्टि से यह व्यक्ति के जन्मकालीन ग्रह-स्थितियों का एक व्यवस्थित आलेख है, जिसके आधार पर उसके जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जाता है।

जन्मकुंडली ज्योतिषीय अध्ययन का एक प्रमुख आधार मानी जाती है। जन्म के समय पूर्वी क्षितिज पर जो राशि उदित हो रही होती है, उसे लग्न कहा जाता है। इसके साथ सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य ग्रहों की स्थिति को बारह राशियों और बारह भावों के सन्दर्भ में देखा जाता है। कुंडली के बारह भाव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उदाहरणतः—

प्रथम भाव— शरीर, व्यक्तित्व एवं स्वभाव से सम्बन्धित माना जाता है।

द्वितीय भाव— धन, वाणी एवं पारिवारिक संसाधनों से सम्बद्ध माना जाता है।

तृतीय भाव— पराक्रम, साहस, प्रयास एवं संचार से सम्बन्धित माना जाता है।

चतुर्थ भाव— सुख, गृह, माता एवं आन्तरिक संतोष से सम्बद्ध माना जाता है।

पंचम भाव— शिक्षा, बुद्धि, सृजनात्मकता एवं सन्तान से सम्बन्धित माना जाता है।

सप्तम भाव— विवाह, दाम्पत्य एवं साझेदारी से सम्बन्धित माना जाता है।

नवम भाव— धर्म, भाग्य, गुरु एवं उच्च ज्ञान से सम्बद्ध माना जाता है।

दशम भाव— कर्म, व्यवसाय, पद एवं सामाजिक प्रतिष्ठा के अध्ययन हेतु महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

इस प्रकार प्रत्येक भाव जीवन के किसी न किसी पक्ष से सम्बद्ध माना गया है। किन्तु किसी एक भाव अथवा एक ग्रह को देखकर सम्पूर्ण जीवन के विषय में निष्कर्ष निकालना उचित नहीं माना जाता है। कुंडली के सम्यक् अध्ययन के लिए ग्रहों की स्थिति, राशि, भाव, भावेश, दृष्टि, युति, दशा, गोचर तथा सम्पूर्ण कुंडली की पारस्परिक संरचना को समग्र रूप से देखना आवश्यक माना जाता है। अर्थात् कुंडली का अध्ययन समग्रता में किया जाना चाहिए, न कि किसी एक ग्रह अथवा एक योग के आधार पर।

भारतीय ज्योतिष-परम्परा में सूर्य, चन्द्रमा, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु को नवग्रह कहा जाता है। इन ग्रहों को जीवन के विभिन्न पक्षों का कारक माना गया है।

» सूर्य को आत्मविश्वास, व्यक्तित्व, नेतृत्व, पिता, अधिकार एवं प्रतिष्ठा से सम्बन्धित माना जाता है।
» चन्द्रमा को मन, भावनाओं, संवेदनशीलता, मानसिक प्रवृत्तियों तथा मातृ-पक्ष का प्रतिनिधि माना जाता है।
» मंगल साहस, ऊर्जा, पराक्रम, उत्साह, भूमि तथा तकनीकी क्षमता से सम्बन्धित माना जाता है।
» बुध बुद्धि, वाणी, तर्क, गणना, अध्ययन तथा संचार का कारक माना जाता है।
» गुरु ज्ञान, शिक्षा, धर्म, सद्बुद्धि, मार्गदर्शन, विस्तार एवं शुभता से सम्बन्धित माना जाता है।
» शुक्र प्रेम, सौन्दर्य, कला, दाम्पत्य, सुख-सुविधा तथा भौतिक समृद्धि का प्रतिनिधित्व करता है।
» शनि कर्म, अनुशासन, धैर्य, परिश्रम, उत्तरदायित्व, विलम्ब तथा जीवन के कठोर अनुभवों से सम्बन्धित माना जाता है।

» राहु और केतु को छाया ग्रह माना जाता है। ज्योतिषीय परम्परा में इनका सम्बन्ध असामान्य परिस्थितियों, भ्रम, आकांक्षाओं, अचानक होने वाले परिवर्तन तथा आध्यात्मिक अनुभवों जैसे विषयों से जोड़ा जाता है।

यहाँ यह समझना आवश्यक है कि किसी ग्रह को केवल 'शुभ' अथवा 'अशुभ' कह देना पर्याप्त नहीं है। उसके फल का विचार उसकी राशि, भाव, स्वामित्व, दृष्टि, युति, दशा, गोचर तथा सम्पूर्ण कुंडली के सन्दर्भ में किया जाता है।

जब कोई व्यक्ति अपनी जन्मकुंडली के माध्यम से अपनी प्रवृत्तियों, सम्भावित चुनौतियों और जीवन की विभिन्न परिस्थितियों पर विचार करता है, तो उसे अपने निर्णयों और व्यवहार को समझने का एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्राप्त हो सकता है। हालाँकि जीवन के महत्त्वपूर्ण निर्णय केवल कुंडली के आधार पर लेना उचित नहीं माना जाना चाहिए। शिक्षा, योग्यता, अनुभव, रुचि, पारिवारिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ तथा व्यक्ति का परिश्रम भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। इसी दृष्टि से ज्योतिष को निर्णय का एकमात्र आधार नहीं, अपितु आत्मचिन्तन और मार्गदर्शन का एक पारम्परिक माध्यम मानना अधिक संतुलित दृष्टिकोण होगा।

आज के युवा वर्ग के सामने करियर के अनेक विकल्प उपलब्ध हैं। शिक्षा, प्रशासन, चिकित्सा, तकनीक, व्यवसाय, कला, साहित्य, अनुसंधान तथा अनेक नवीन क्षेत्रों में अवसरों का विस्तार हुआ है। ऐसी स्थिति में ज्योतिषीय परामर्श के माध्यम से व्यक्ति अपनी रुचियों, प्रवृत्तियों और कुंडली में दिखाई देने वाले संकेतों पर विचार कर सकता है किन्तु करियर का निर्णय केवल कुंडली के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। शिक्षा, योग्यता, रुचि, कौशल, अवसर, आर्थिक परिस्थितियाँ और परिश्रम किसी भी व्यक्ति की सफलता के वास्तविक आधारों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

भारतीय समाज में विवाह को एक महत्त्वपूर्ण संस्कार के रूप में देखा गया है। परम्परागत रूप से विवाह से पूर्व कुंडली-मिलान की परम्परा रही है। इसमें गुण-मिलान के साथ-साथ सप्तम भाव, सप्तमेश, शुक्र, गुरु, ग्रहों की स्थिति तथा दशा आदि का भी विचार किया जाता है किन्तु सफल वैवाहिक जीवन केवल ग्रह-स्थितियों पर निर्भर नहीं करता। आपसी सम्मान, विश्वास, संवाद, सहानुभूति, समझदारी, धैर्य और उत्तरदायित्व दाम्पत्य जीवन की वास्तविक आधारशिलाएँ हैं इसलिए कुंडली-मिलान को परम्परागत दृष्टिकोण के रूप में देखा जा सकता है, परन्तु वैवाहिक निर्णय में मानवीय गुणों और व्यावहारिक अनुकूलता को सर्वोच्च महत्त्व दिया जाना चाहिए।

भारतीय ज्योतिष-परम्परा में काल और समय को विशेष महत्त्व दिया गया है। किसी विशिष्ट कार्य के लिए अनुकूल समय का चयन करने की परम्परा को मुहूर्त कहा जाता है। विवाह, गृहप्रवेश, नामकरण, धार्मिक अनुष्ठान तथा अन्य शुभ

कार्यों में मुहूर्त-विचार भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। इस दृष्टि से ज्योतिष केवल व्यक्ति के जन्मकाल का अध्ययन नहीं करता, अपितु कार्य और काल के सम्बन्ध को भी महत्त्व देता है। जीवन में कठिन परिस्थितियाँ सभी के सामने आती हैं। ऐसी परिस्थितियों में व्यक्ति को केवल भविष्य की चिन्ता करने के बजाय अपने वर्तमान कर्म और निर्णयों पर विचार करना अधिक उपयोगी होता है। कुंडली-अध्ययन व्यक्ति को सम्भावित चुनौतियों के विषय में विचार करने तथा अपने जीवन के प्रति सजग होने का अवसर प्रदान करता है।

भारतीय दर्शन में कर्म को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। मनुष्य के जीवन में उसके कर्म, संस्कार, निर्णय और पुरुषार्थ की महत्त्वपूर्ण भूमिका स्वीकार की गई है। ज्योतिष को भी परम्परागत रूप से कर्म-सिद्धान्त से जोड़कर देखा जाता है। जन्मकुंडली को व्यक्ति के जीवन की सम्भावनाओं और परिस्थितियों का संकेतक माना जा सकता है; किन्तु उन परिस्थितियों के प्रति व्यक्ति का व्यवहार और उसका पुरुषार्थ उसके जीवन की दिशा को प्रभावित करता है। इस दृष्टि से ज्योतिष और कर्म का सम्बन्ध विरोध का नहीं, अपितु संकेत और पुरुषार्थ के समन्वय का है। कुंडली यदि सम्भावनाओं का संकेत देती है, तो कर्म उन सम्भावनाओं को वास्तविकता में बदलने का माध्यम बनता है। अतः मनुष्य को केवल ग्रहों की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए; उसे अपने ज्ञान, विवेक, पुरुषार्थ और सद्कर्म पर भी विश्वास रखना चाहिए। कुंडली को लेकर समाज में अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। कुछ लोग इसे जीवन की प्रत्येक घटना का निश्चित पूर्वानुमान मानते हैं, जबकि कुछ लोग इसे पूर्णतः निरर्थक मानते हैं। इन दोनों अतियों के बीच एक संतुलित दृष्टिकोण आवश्यक है।

ज्योतिष भारतीय परम्परा में विकसित एक प्राचीन ज्ञान-विधा है, जिसकी अपनी विशिष्ट अवधारणाएँ, गणनाएँ और व्याख्या-पद्धतियाँ हैं। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से इसके अनेक दावों की स्वतंत्र वैज्ञानिक पुष्टि का प्रश्न अलग है। इसलिए ज्योतिषीय कथनों को निश्चित और अपरिवर्तनीय भविष्यवाणी के रूप में प्रस्तुत करने के बजाय उन्हें परम्परागत ज्योतिषीय दृष्टिकोण के रूप में समझना अधिक विवेकपूर्ण है। मनुष्य का जीवन केवल ग्रहों की स्थिति से निर्धारित नहीं होता। उसके जीवन को उसके कर्म, निर्णय, संस्कार, शिक्षा, परिवार, समाज, अवसर और पुरुषार्थ भी निरन्तर प्रभावित करते हैं।

जन्मकुंडली भारतीय ज्योतिष-परम्परा का एक व्यापक और महत्त्वपूर्ण विषय है। ग्रह, राशि, नक्षत्र, भाव, दशा, गोचर और मुहूर्त जैसी अवधारणाओं के माध्यम से भारतीय ज्योतिष मानव जीवन और काल को समझने का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। कुंडली का वास्तविक महत्त्व तभी सार्थक हो सकता है, जब उसका अध्ययन व्यक्ति को भयभीत करने के स्थान पर जागरूक करे, कर्म से विमुख करने के स्थान पर कर्मशील बनाए और अन्धविश्वास के स्थान पर विवेक एवं आत्मचिन्तन की दिशा प्रदान करे। अतः मनुष्य अपने जीवन का केवल दर्शक नहीं है, अपितु उसका सक्रिय निर्माता भी है। ग्रहों की स्थिति चाहे जो संकेत दे, जीवन की दिशा निर्धारित करने में विवेकपूर्ण निर्णय, सत्कर्म, शिक्षा, संस्कार, पुरुषार्थ और धैर्य की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है इसलिए कुंडली को भविष्य का अंतिम निर्णय-पत्र मानने के बजाय यदि उसे आत्मचिन्तन, जीवन-पर्यवेक्षण और परम्परागत ज्ञान-दृष्टि के एक माध्यम के रूप में देखा जाए, तो उसका अध्ययन अधिक संतुलित, सार्थक और जीवनोपयोगी बन सकता है।

mdpatrika4@gmail.com

मुक्तिधाम गयातीर्थ

डॉ. आलोक कुमार पाण्डेय
सुधी आचार्य, व्याकरण विभाग

बिहार राज्य में फल्गु नदी के तट पर अवस्थित गया तीर्थ सनातन धर्म की पितृपरम्परा में अत्यन्त महत्वपूर्ण तीर्थ माना गया है। पुराणों में मोक्षप्राप्ति के विविध साधनों का उल्लेख करते हुए गया में श्राद्ध एवं पिण्डदान को विशेष महत्त्व दिया गया है। गया-माहात्म्य के अनुसार गया में पिण्डदान करने से पितरों की सद्गति होती है और पुत्र अपने पितृऋण से उऋण होने का प्रयास करता है। देवीभागवत में पुत्र की सार्थकता के तीन प्रमुख कर्तव्यों जीवित माता-पिता की आज्ञा का पालन, मृत्यु के अवसर पर श्राद्धादि कर्म तथा गया में पिण्डदान का उल्लेख मिलता है। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, वायुपुराण और कूर्मपुराण आदि में भी गया तीर्थ तथा पितृश्राद्ध की महिमा का वर्णन प्राप्त होता है। अतः गया तीर्थ एक धार्मिक स्थलमात्र नहीं है, अपितु पितृस्मरण, कृतज्ञता, पारिवारिक उत्तरदायित्व और सनातन परम्परा के संरक्षण का महत्वपूर्ण केन्द्र है। इसके विस्तृत अध्ययन के लिए तीर्थप्रकाश तथा नारायणभट्टकृत त्रिस्थलीसेतु जैसे ग्रन्थ उपयोगी हैं।

"अखिलविश्व के सनातनधर्मावलम्बियों के लिए बिहारप्रदेश में स्थित गया जी पितरों के श्राद्ध एवं पिण्डदान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और परम पवित्र तीर्थ है। गया-माहात्म्य का सम्यक् परिज्ञान इस तीर्थ की धार्मिक एवं सांस्कृतिक महत्ता को समझने के लिए आवश्यक है।"

अखिलविश्व के सनातनधर्मावलम्बियों के लिए बिहारप्रदेश में स्थित गया जी पितृश्राद्ध एवं पिण्डदान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तीर्थ है। सनातन धर्म की परम्परा में पितरों के प्रति कृतज्ञता, श्रद्धा और उत्तरदायित्व को विशेष स्थान प्राप्त है। इसी भावना का अत्यन्त प्रभावशाली स्वरूप गया में सम्पन्न होने वाले श्राद्ध एवं पिण्डदान के रूप में दिखाई देता है। किसी भी धार्मिक आचार के पीछे निहित तत्त्व, परम्परा और उसके माहात्म्य का ज्ञान उस आचार के प्रति श्रद्धा को अधिक गहन बनाता है। अतः गया जी तीर्थ के माहात्म्य का परिज्ञान आवश्यक है। पुराणों, इतिहासग्रन्थों तथा धर्मशास्त्रीय परम्परा में गया तीर्थ की महिमा का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। वायुपुराण में मोक्षप्राप्ति के चार उपायों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

ब्रह्मज्ञानं गयाश्राद्धं गोगृहे मरणं तथा।
वासः पुंसां कुरुक्षेत्रे मुक्तिरेषा चतुर्विधा॥

अर्थात् ब्रह्मज्ञान, गया में श्राद्ध, गोशाला में मृत्यु तथा कुरुक्षेत्र में निवास ये मोक्षप्राप्ति के चार साधन बताए गए हैं। यहाँ ब्रह्मज्ञान का तात्पर्य आत्मतत्त्व के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से है। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।"

गया-माहात्म्य की विशेषता को रेखांकित करते हुए वायुपुराण में पुनः कहा गया है—

ब्रह्मज्ञानेन किं साध्यं गोगृहे मरणेन किम्।
किं कुरुक्षेत्रवासेन यदि पुत्रो गयां व्रजेत्॥

इस प्रकार गया में पुत्र द्वारा पितरों के निमित्त किया जाने वाला श्राद्ध एवं पिण्डदान सनातन परम्परा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। देवीभागवत में पुत्र के कर्तव्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

जीवतो वाक्यकरणात् क्षयाहे भूरिभोजनात्।
गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता॥

अर्थात् माता-पिता के जीवित रहते उनकी आज्ञा का पालन करना, उनके निधन के अवसर पर विधिपूर्वक श्राद्धादि कर्म करना तथा गया में पिण्डदान करना इन तीनों से पुत्रत्व की सार्थकता मानी गई है। श्रीमद्वाल्मीकि रामायण में भी भरत को अयोध्या लौटने के उपदेश क्रम गया तीर्थ में पिण्ड दान का प्रसङ्ग समुद्धृत है –

ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम्।
पितरं चापि धर्मज्ञं मातरं चाभिनन्दय।।

श्रूयते हि पुरा तात श्रुतिर्गीता यशस्विना।
गयने यजमानेन गयेष्वेव पितृन् प्रति ।।
एष्टव्यो बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः।
तेषां वै समवेतानमपि कश्चिद् गयां व्रजेत।।

श्रीमद्वाल्मिकीरामायण 2.107. 10- 12

अर्थात् हे भरत पिता के ऋणों से मुक्ति के लिए मेरा कार्य तुम करो दिवंगत धर्मज्ञ पिता को प्रसन्न करो। ऐसा सुना जाता है कि प्राचीन काल में यशस्वी यजमान गय ने गया में पितरों से प्रार्थना कि थी हमे बहुत पुत्र प्रदान करें उनमें से एक भी गया जाये।

महाभारत के वनपर्व में पितरों की अभिलाषा को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में व्यक्त करते हुए गया तीर्थ के माहात्म्य का वर्णन महर्षि द्वैपायन ने किया है –

काङ्क्षन्ति पितरः पुत्रान् नरकापतभीरवः।
गयां यास्यति यः कश्चित् सोऽस्मान् संतारयिष्यति॥

महाभारत , वनपर्व अध्याय - 84

अर्थात् पितर यह कामना करते हैं कि उनकी सन्तान में कोई एक भी गया जाकर उनके निमित्त कर्म करे और उन्हें सद्गति प्रदान करने का माध्यम बने। वायुपुराण गया में पिण्डदान के फल की महिमा को अत्यन्त व्यापक बताते हुए कहता है—

गयायां पिण्डदानेन यत्फलं लभते नरः।
न तच्छक्यं मया वक्तुं कल्पकोटिशतैरपि॥

अन्यान्य शास्त्रों की भाँति कूर्मपुराण में भी गया जाकर श्राद्ध करने वाले व्यक्ति द्वारा पितरों की सद्गति का वर्णन मिलता है—

गयां प्राप्यानुषङ्गेण यदि श्राद्धं समाचरेत्।
तारिताः पितरस्तेन स याति परमां गतिम्॥

अतः स्पष्ट है कि गया-माहात्म्य केवल धार्मिक अनुष्ठान का विषय नहीं, अपितु पितृस्मरण, कृतज्ञता, पारिवारिक उत्तरदायित्व और सनातन सांस्कृतिक चेतना से जुड़ा हुआ व्यापक विषय है। गया की पावन भूमि पर किया जाने वाला श्राद्ध एवं पिण्डदान व्यक्ति को अपनी पारिवारिक एवं सांस्कृतिक जड़ों से जोड़ता है और पूर्वजों के प्रति श्रद्धा एवं कृतज्ञता की भावना को सुदृढ़ करता है।

गया तीर्थ के माहात्म्य का विस्तृत एवं शास्त्रीय अध्ययन करने के लिए तीर्थप्रकाश तथा नारायणभट्ट-विरचित त्रिस्थलीसेतु जैसे ग्रन्थों का अनुशीलन विशेष रूप से उपयोगी है। इस प्रकार गया जी भारतीय तीर्थपरम्परा में पितृश्रद्धा और सनातन सांस्कृतिक स्मृति का एक विशिष्ट केन्द्र है।

mdpatrika4@gmail.com

गंगा ने सात पुत्रों का त्याग क्यों किया?

श्रीमती सरोज गुलाटी
लेखिका, संस्कृत विदुषी

पौराणिक कथा के अनुसार, गंगा ने अपने पहले सात पुत्रों को नदी में इसलिए प्रवाहित किया था, क्योंकि वे आठ वसुओं में से सात वसु थे। उन्हें महर्षि वसिष्ठ के शाप के कारण मनुष्य-योनि में जन्म लेना पड़ा था।

कथा के अनुसार, आठ वसुओं में से एक प्रभास की पत्नी दयू ने महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में उनकी दिव्य गाय नंदिनी को देखा। दयू की इच्छा उस गाय को प्राप्त करने की हुई। अपनी पत्नी की इच्छा पूरी करने के लिए प्रभास ने अन्य वसुओं की सहायता से नंदिनी को चुरा लिया। जब महर्षि वसिष्ठ को इस बात का पता चला, तो उन्होंने सभी आठ वसुओं को पृथ्वी पर मनुष्य के रूप में जन्म लेने का शाप दे दिया।

अष्टौ वासवः पूर्व ऋषेः वशिष्ठस्य।
शापात् मर्त्यलोकेऽभवन् पृथिवीपतेः।।

शाप से दुखी वसुओं ने महर्षि वसिष्ठ से क्षमा माँगी और शाप से मुक्ति का उपाय पूछा क्योंकि देवताओं में से कोई भी पृथ्वी लोक में रहना नहीं चाहता है। महर्षि ने कहा कि सात वसु मनुष्य के रूप में जन्म लेते ही शीघ्र ही शाप से मुक्त हो जाएँगे, लेकिन जिस प्रभास ने चोरी में मुख्य भूमिका निभाई थी, उसे लंबे समय तक पृथ्वी पर रहकर अपने कर्म का फल भोगना पड़ेगा। यही प्रभास आगे चलकर देवव्रत अर्थात् भीष्म के रुप में प्रसिद्ध हुए।

अपने इस श्राप से मुक्ति पाने के लिए वसुओं ने गंगा से प्रार्थना की कि वे उनकी माता बनें और जन्म लेते ही उन्हें शाप से मुक्त कर दें। गंगा ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। बाद में उन्होंने राजा शांतनु से विवाह किया और उनसे यह वचन लिया कि वे उनके किसी कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

जब गंगा के एक-एक करके सात पुत्र हुए, तो उन्होंने प्रत्येक नवजात शिशु को नदी में प्रवाहित कर दिया। इस प्रकार वे सातों वसु शीघ्र ही मनुष्य जन्म से मुक्त होकर अपने दिव्य लोक को लौट गए।

शापमोक्षणकार्याय स्वहस्तेन जलं ददौ।
सप्त पुत्रान् प्रवाह्यैव गङ्गा लोकहितैषिणी॥

जब आठवें पुत्र का जन्म हुआ, तब राजा शांतनु अपने वचन को भूलकर स्वयं को रोक नहीं सके। उन्होंने गंगा को बालक को नदी में प्रवाहित करने से रोक दिया। यही बालक देवव्रत थे, जो आगे चलकर भीष्म कहलाए। आठवें वसु को अपने शाप का पूरा फल भोगना था, इसलिए उसे लंबे समय तक पृथ्वी पर रहना पड़ा।

अष्टमी देवव्रतः शेषः पालितो भरतर्षभ।
भविष्यति स महाभागः भीष्मो नाम महाबलः।

इस कथा में गंगा द्वारा अपने सात पुत्रों को नदी में प्रवाहित करना सामान्य अर्थ में पुत्र-वियोग या क्रूरता का प्रसंग नहीं माना गया है। पौराणिक मान्यता के अनुसार, यह उन वसुओं को महर्षि वसिष्ठ के शाप से शीघ्र मुक्त करने का माध्यम था।

काव्यधारा

प्रश्नोत्तरमाला

शशिपाल शर्मा 'बालमित्र'
कवि, लेखक एवं संस्कृत विद्वान्

प्रश्नाः- श्रीवासुदेवद्विवेदी, उत्तराणि- शशिपालशर्मा (बालमित्र)

गङ्गा जगति केन आनीता?
आनीता सा भगीरथेन।
हता केन विपिने खलु सीता?
विपिनाद् हता दशग्रीवेण।
मुनिना केन समुद्रः पीतः?
पीतवान् तं घटजोऽगस्त्यः।
कथं रावणो निधनं नीतः?
घटजदत्तबाणेन वक्षसि॥१॥
रामशरासन-मुक्तो बाणः
भित्त्वा रावणहृदयं यातः।
धरातलं भित्त्वा तूणीरं
पुनः प्रविष्टः श्रीरामस्य॥२॥

आसीत् को नयवेत्ता काणः?
दैत्यगुरुः शुक्रो धीमान्।
आसीत् कस्य अमोघो बाणः?
श्रीरामस्य न बाणो मोघः।
बद्धः केन समुद्रे सेतुः?
लङ्कां यावत् श्रीरामेण।
सागरस्य मथने को हेतुः?
देवानाम् अमृतस्य कामना॥ २॥

कदा केन विहितं विषपानम्?
जलधिमन्थने सदाशिवेन।
कृतं केन निज-यौवन-दानम्?
ययातिपुत्रः पुरुः स दाता।
को वृद्धोऽपि युवा सञ्जातः?
जरद्-ययातेः पुनर्यौवनम्।
गुरु-पराजये को विख्यातः?
गुरुर्जितः गङ्गापुत्रेण॥ ३॥

मरणं कस्य निजेच्छाऽधीनम्?
गाङ्गेयः स ख्यातः भीष्मः।
नयनं कस्य निमेष-विहीनम्?
सुराः निर्निमेषाः विख्याताः।
पितरौ कस्य च लोचन-हीनौ?
दशरथबाण-हत-श्रवणस्य।
केन कथं तौ निहतौ दीनौ?
पुत्रवियोगे निधनं प्राप्तौ॥ ४॥

२ उत्तरं देहि ।
हर्तुं कः गच्छति पर-वित्तम्?
परधनलुब्धाः भवन्ति चौराः।
हर्तुं कः क्षमते पर-चित्तम्?
शीलधनो यो ब्रूते मधुरम्।
मर्तुं याति स्वयं को दीपे?
तूलवर्तिका स्नेहपायिनी।
भर्तुं याति जलं कः कूपे?
कण्ठे बद्धः कुम्भो रिक्तः॥ १॥

को याचते नीरदं नीरम्?
हली श्रमी कृषको निष्कूपः।
विना मस्तकं कस्य शरीरम्?
विना राहुणा गगने केतुः।
को दिवसेऽपि न द्रष्टुं शक्तः?
धनदेव्याः वाहनम् उलूकः
को वध्वा निशि भवति वियुक्तः?
असौ चक्रवाको हि वराकः ॥ २॥

नृत्यति को विपिने घनकाले?
चित्रपक्षवान् रम्य-मयूर:।
कस्य तृतीयं नयनं भाले?
मदनदाहक: शिव: त्रिनेत्र:।
भवति न कस्मिन् वृक्षे पत्रम्?
द्रुमे करीरे कुत: पल्लवा:।
कस्य मस्तके ध्रियते छत्रम्?
नृपति: छत्रपति: विख्यात: ॥ ३॥

को न दिने कुरुते विश्रामम्?
नभश्चर: भास्कर: रवि: स:।
कस्य एकचक्रं रथ-यानम् ?
अरुणसारथे: तद् रथ-यानम्।
को न फलति फुल्लति तरुरेक:?
यद्यपि भवति सुधा-रस-सेक:?
निर्बुद्धे: शिष्यस्य समान:
वंश: फुल्लति फलति न वृक्ष: ॥ ४॥

विचारं कुरु ।

रचयति क: सकलं संसारम्?
परमेष्ठी कमलोद्भवब्रह्मा।
कुरुते को जगत: संहारम्?
शिव: ताण्डवप्रलयङ्कारी।
क: पालयति दधाति समस्तम्?
शेषे शेते हरि: स विष्णु:।
को न उदेति, न गच्छति अस्तम्?
परमात्मा नोदेति (हि)अनस्त:॥ १॥

कुतो भास्करे एष प्रकाश:?
भासा परमात्मन: भासते।
इन्दौ कुत: शीतलाभास:?
शीताभास: चन्द्रे कृष्णात्।
अग्नौ कुतो भयङ्कर-दाह:?
कृष्णतेजसा ज्वलति पावक:।
पानीये कुत एष प्रवाह:?
जले प्रवाह: कृष्णकृपाया:॥ २॥

वायु: कुतो वाति अविरामम्?
वायु: वाति ईशाद् भीत:।
इन्द्रो वर्षति कुतो निकामम्?
इन्द्र: वर्षति ब्रह्मादेशात्।
अयं कुतो विपुलो विस्तार:?
कुत्र अस्य पुनरुपसंहार:?
विष्णो: जगतोऽयं विस्तार:.
तस्मिन्नेव लीनता जगत:॥ ३॥

इह क: पुण्य-पापयो: कर्ता?
जीव: कर्ता पुण्य-पापयो:।
कश्च शुभाऽशुभ-फलयो: भोक्ता?
शुभाशुभं भुङ्क्ते स हि जीव:।
को वा पुण्य-पाप-फल-दाता?
कर्म करोति फलं स भुंक्ते।
कोऽसौ-सकल-विधान-विधाता ?
विधि: विरञ्चि: कमले ब्रह्मा ॥ ४॥

mdpatrika4@gmail.com

सह-अस्तित्व का सांस्कृतिक पर्व नागपञ्चमी

पिंकी उपाध्याय
लेखिका, बाल साहित्यकार

जब-जब श्रावण मास की रिमझिम फुहारों से धरती आच्छादित होती है, तब-तब ग्रामीण अंचलों की चौपालों से लेकर आधुनिक महानगरों के घरों तक एक अनोखी लोक-सुगंध बिखर जाती है। गोबर और हल्दी से घर के द्वारों पर उकेरी गई नाग देवता की आकृतियाँ और जन-जीवन के बीच गूँजते पारंपरिक गीत देखे सुने जा सकते हैं। यह दृश्य किसी कर्मकांड का हिस्सा मात्र नहीं है, अपितु उस लोक-संस्कृति का जीवंत दस्तावेज है जो प्रकृति के साथ हमारा अटूट रिश्ता तय करती है। श्रावण शुक्ल पंचमी को मनाया जाने वाला 'नागपञ्चमी ' का पर्व किसी किताबी उपदेश से नहीं, अपितु खेत-खलिहानों, माटी की खुशबू और जन-मानस की धड़कनों से जन्मा एक ऐसा लोक-पर्व है, जहाँ भय को भी श्रद्धा और करुणा के आंचल में समेट लिया जाता है। भारतीय सनातन संस्कृति और उसकी लोक-परंपराओं का फलक इसी प्रकार अत्यंत व्यापक है, जहाँ मनाए जाने वाले पर्व इतिहास, धर्म, अध्यात्म, दर्शन और विज्ञान के ऐसे प्रामाणिक दस्तावेज हैं जो सदियों से हमारी जीवन-पद्धति को संचालित करते आ रहे हैं।

नागपञ्चमी की प्राचीनता और उसकी ऐतिहासिक जड़ों का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि इसका विस्तृत उल्लेख हमारे लगभग सभी प्रमुख ग्रन्थों वेदों, उपनिषदों, महाकाव्यों और पुराणों में पूरी प्रामाणिकता के साथ मिलता है। भारतीय साहित्य में नागों को केवल एक साधारण जीव नहीं, अपितु एक विशिष्ट और कुलीन योनि के रूप में स्थान दिया गया है। वेदों में सर्पों को विशेष महत्ता दी गई है। पौराणिक वंशावलियों के अनुसार, सृष्टि के रचनाकार प्रजापति महर्षि कश्यप की अनेक पत्नियाँ थीं, जिनमें से एक 'कद्रू' थीं। कद्रू की संतानों को 'कद्रवेय' कहा गया, जो आगे चलकर नाग कहलाए। वासुकि, अनंत, तक्षक, कर्कोटक, शंखपाल, महापद्म, कुलिक और धृतराष्ट्र जैसे प्रमुख नाग इसी कुल से संबंधित माने गए हैं। ऋग्वेद में सर्प और विष से सम्बन्धित सूक्त भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

यद् गोषु यद् अश्वेषु यद् वा पुरुषेषु।
यद् ओषधीषु विषम् तद् अपाग्निं कृणोमि ते॥

सर्प-विष से रक्षा की वैदिक परम्परा को स्पष्ट करने के लिए ऋग्वैदिक गरुत्मान्/सर्प-विष सम्बन्धी मन्त्रों का सन्दर्भ मिलता है। अथर्ववेद में सर्पों और उनके विष से रक्षा के लिए अनेक मन्त्र प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद के रूद्राध्याय में कहा गया है—

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्य: सर्पेभ्यो नम: ॥

अर्थात् पृथ्वी पर रहने वाले, अन्तरिक्ष में स्थित तथा दिव्य लोकों में स्थित सभी सर्पों को नमस्कार है। यह मन्त्र इस तथ्य को पुष्ट करता है कि सर्प-सम्बन्धी श्रद्धा भारतीय परम्परा में केवल पौराणिक नहीं है, अपितु वैदिक साहित्य में भी विद्यमान है।

'महाभारत' के आदि पर्व में आस्तिक पर्व[1] का अत्यंत विस्तृत और रोमांचक वर्णन मिलता है। महाराज परीक्षित की मृत्यु तक्षक नाग के डसने से हो जाने के कारण, उनके पुत्र और हस्तिनापुर के सम्राट राजा जनमेजय ने अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए तथा संपूर्ण सर्प वंश के विनाश के लिए एक महायज्ञ का आयोजन किया था, जिसे 'सर्प सत्र' कहा जाता है। इस भयानक यज्ञ की अग्नि में संसार के समस्त नाग जलने लगे थे। इस प्रलयकारी स्थिति को रोकने और संपूर्ण नाग जाति की रक्षा करने का महान कार्य महर्षि जरत्कारू[2] और आस्तीक मुनि ने किया था।[3] जिस ऐतिहासिक दिन आस्तीक मुनि ने नागों

1 अनन्तं वासुकिं शेषं पद्मं कम्बलमेव च। कर्कोटकं च नागेन्द्रं धृतराष्ट्रं च तक्षकम्॥

2 अनन्तं वासुकिं शेषं पद्मं कम्बलमेव च। कर्कोटकं च नागेन्द्रं धृतराष्ट्रं च तक्षकम्॥

3 आस्तीकस्तु ततो राजा यज्ञं तस्य न्यवारयत्। वरं वृणीष्व भद्रं ते ब्रूहि किं ते प्रियं मया॥

के प्राण बचाए थे, वह श्रावण मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि थी। तभी से नागों के रक्षार्थ और उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए इस तिथि को 'नागपञ्चमी' के रूप में मनाया जाने लगा।

भविष्य पुराण, स्कंद पुराण, गरुड़ पुराण, अग्नि पुराण और विष्णु पुराण जैसे ग्रंथों में नागों के स्वरूप, उनके विभिन्न कुलों, उनकी राजधानियों और उनकी पूजा-पद्धति का स्पष्ट विधान मिलता है। भविष्य पुराण में तो यहाँ तक उल्लेख है कि सूर्य के रथ में बारह अलग-अलग महीनों में जो विभिन्न देवता और जीव स्थान लेते हैं, उनमें नागों की भूमिका भी अत्यंत महत्वपूर्ण होती है, जो प्रकृति के वार्षिक चक्र में उनकी अनिवार्यता को रेखांकित करती है। इस प्रकार भारतीय इतिहास और लोक-संस्कृति में नागों की उपस्थिति सृजन, देव-कार्य और जीवन-रक्षा के रूप में दर्ज है।

पौराणिक कालखंड के सबसे बड़े और निर्णायक प्रसंग 'समुद्र मंथन' में देवताओं और असुरों ने मिलकर क्षीरसागर का मंथन किया था।[4] इस महाभियान के दौरान मंदराचल पर्वत को मथनी और वासुकि नाग को मन्थन हेतु नेती (रस्सी) बनाया गया था।[5] वासुकि नाग ने अपने शरीर को मंदराचल पर्वत के चारों ओर लपेटकर उस भारी दबाव को सहन किया, जिसके परिणामस्वरूप अमृत और चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई। सृष्टि की पुनर्स्थापना और देवताओं की विजय में एक नाग की यह भूमिका इस बात का प्रमाण है कि भारतीय दर्शन में जीव मात्र की सहभागिता को सर्वोच्च स्थान दिया गया है।

इसी प्रकार देवाधिदेव महादेव शिव अपने शरीर पर विभिन्न स्थानों पर नागों को आभूषण के रूप में धारण करते हैं जैसे गले में वासुकि नाग का हार, कानों में कुंडल के रूप में सर्प, और भुजबंध के रूप में नाग। शिवत्व के साथ नागों का यह जुड़ाव इस दार्शनिक सत्य को स्थापित करता है कि जो वस्तुएं या जीव सामान्य समाज के लिए भयंकर या अछूत प्रतीत होते हैं, भगवान शिव उन्हें भी आत्मसात कर सर्वकल्याण और समानता का संदेश देते हैं।

श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, षोडश अध्याय में श्रीकृष्ण से जुड़ा कालिय नाग का प्रसंग है जिसमें कालिय के फणों पर भगवान् श्रीकृष्ण के नृत्य का अत्यन्त प्रभावशाली वर्णन मिलता है। यमुना नदी के जल को विषैला बनाने वाले कालिय नाग का मर्दन किया था।[6]नागपत्नियों के कहने पर भगवान श्रीकृष्ण ने उसे जीवनदान दिया तथा यमुना को विषमुक्त किया। वह भी श्रावण मास की पंचमी तिथि से जुड़ा एक ऐतिहासिक और आध्यात्मिक प्रसंग माना जाता है। यह घटना अहंकार के शमन और सह-अस्तित्व की सीख देती है।

भारतीय मनीषियों, ऋषियों और योगियों ने शरीर विज्ञान और अध्यात्म को बहुत गहराई से जोड़ा है। नागों की पूजा या उनसे जुड़े प्रतीकों का उपयोग योग साधना में बहुत ऊच्च स्तर पर किया जाता है। योग-तान्त्रिक परम्पराओं में कुण्डलिनी को मूलाधार में सुप्त दिव्यशक्ति के रूप में निरूपित किया गया है। सर्पाकार कुण्डली इस शक्ति की अन्तर्निहित, संकुचित एवं ऊर्ध्वगामी सम्भावना का प्रतीक है। साधना, प्राणायाम, धारणा और ध्यान के माध्यम से इसके जागरण की परिचर्चा है। इस दृष्टि से नाग केवल बाह्य पूजा का विषय ही नहीं, अपितु भारतीय आध्यात्मिक प्रतीक-विधान में अन्तर्निहित चेतन-शक्ति के भी प्रतीक हैं। जब साधक योग साधना, प्राणायाम और ध्यान के माध्यम से इस ऊर्जा को जागृत करता है, तो यह ऊर्जा सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से होती हुई सहस्रार चक्र की ओर ऊर्ध्वगामी होती है। नागपञ्चमी का पर्व बाह्य रूप में नागों की पूजा का है, किंतु इसका आंतरिक और सूक्ष्म संदेश मनुष्य को अपनी पाशविक वृत्तियों को साधकर आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने की प्रेरणा देता है।

ज्योतिषीय एवं धार्मिक परम्पराओं में पंचमी तिथि का सम्बन्ध नाग-पूजन से माना गया है। विभिन्न परम्पराओं में राहु-केतु को सर्पाकार प्रतीकों से जोड़ा गया है और नागपञ्चमी के अवसर पर नागदोष अथवा सर्पसम्बन्धी ज्योतिषीय मान्यताओं के निवारण हेतु पूजा-विधान किए जाते हैं। कालसर्प योग आदि की व्याख्या सभी ज्योतिषीय परम्पराओं में असमान रूप से

4 मन्दरं मन्दरगिरिं मथन्तो देवदानवाः। वासुकिं नेत्रमास्थाय मथन्ति क्षीरसागरम्॥ भागवतपुराण, अष्टम स्कन्ध

5 मन्दरं मन्दरं कृत्वा नेतिं कृत्वा तु वासुकिम्। ममन्थुरमृतार्थाय क्षीराब्धिं सुरदानवाः॥

6 मन्दरं मन्दरं कृत्वा नेतिं कृत्वा तु वासुकिम्। ममन्थुरमृतार्थाय क्षीराब्धिं सुरदानवाः॥

अलग-अलग स्वीकृत है। ज्योतिषीय ग्रंथों के अनुसार, पंचमी तिथि के आधिपत्य ग्रह नाग देवता हैं। जिन जातकों की कुंडली में कालसर्प योग या अन्य किसी प्रकार का सर्प दोष होता है, उनकी आधिदैविक शांति और मानसिक स्थिरता के लिए नागपञ्चमी के दिन की गई पूजा-अर्चना को सर्वाधिक ऊर्जावान, अचूक और फलदायी माना गया है।

नागों की दैवी प्रतिष्ठा को समझाने के लिए विष्णु और अनन्तशेष का साहचर्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भागवत में अनन्तशेष ब्रह्माण्डीय आधार और अनन्तत्व के प्रतीक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। तद्यथा—

नमस्तेऽनन्तरूपाय कूटस्थायादिमूर्तये।
नाभेर्निर्गतपद्माय नमो ब्रह्ममयाय च॥

आज का आधुनिक विज्ञान और पर्यावरण अध्ययन इस बात को पूरी दृढ़ता से स्वीकार करता है कि प्राचीन भारतीय पर्व और परंपराएँ कोई अंधविश्वास या कोरी कल्पना नहीं हैं, वे प्रकृति के संरक्षण और पारिस्थितिकी संतुलन को बनाए रखने के अत्यंत वैज्ञानिक उपाय हैं। पर्यावरणविदों और कृषि वैज्ञानिकों के अनुसार, सर्प किसानों के सबसे बड़े और सच्चे हितैषी हैं। सर्प खाद्य-जाल के महत्त्वपूर्ण घटक हैं। अनेक सर्प प्रजातियाँ चूहों तथा अन्य कृन्तकों की संख्या को नियंत्रित करती हैं, जिससे कृषि-फसलों की रक्षा और पारिस्थितिक संतुलन बनाए रखने में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। अत: नागपञ्चमी की परम्परा को आधुनिक पर्यावरणीय दृष्टि से जैव-विविधता और वन्यजीव-संरक्षण की चेतना से जोड़कर देखा जाना चाहिए।

वैज्ञानिक तथ्य यह है कि यदि प्रकृति से सांपों का अस्तित्व समाप्त हो जाए, तो चूहों और कृन्तकों की संख्या इतनी तीव्र गति से बढ़ेगी कि कुछ ही वर्षों में पूरी दुनिया में भयंकर खाद्यान्न संकट और महामारियाँ फैल सकती हैं। इसीलिए प्राचीन काल में इन्हें 'क्षेत्रपाल' की उपाधि दी गई थी।

यह पर्व हमें निरन्तर यह प्रेरणा देता है कि पारिस्थितिकी तंत्र की आहार श्रृंखला में प्रत्येक जीव का अपना एक अनिवार्य और विशिष्ट स्थान है। नागपञ्चमी अप्रत्यक्ष रूप से हमें जैव-विविधता के संरक्षण का बहुमूल्य पाठ पढ़ाती है, जो आज के समय में जलवायु परिवर्तन जैसी चुनौतियों से निपटने के लिए सबसे बड़ी आवश्यकता है। भारत के विभिन्न अंचलों में नागपञ्चमी का उल्लास अत्यंत अनूठे रूपों में दिखाई देता है। महाराष्ट्र के नागपुर और ग्रामीण इलाकों में इस दिन विशेष उत्सव मनाए जाते हैं। बंगाल में माँ मनसा की पूजा की जाती है और उत्तर भारत के गाँवों में आज भी घरों के मुख्य द्वारों के दोनों ओर गोबर, हल्दी या गेरू से नाग देवता के प्रतीकात्मक चित्र बनाकर उनका पूजन किया जाता है। यह इस बात का प्रमाण है कि हमारी लोक-संस्कृति ने पीढ़ियों से इस परंपरा को अपनी जड़ों से जोड़कर रखा है।

समय के साथ हमारी सामाजिक चेतना में एक सकारात्मक बदलाव आया है। जहाँ पूर्व में मेलों और पर्वों के दौरान जीवित नागों को सपेरों द्वारा पकड़ा जाता था, वहीं आज वन्यजीव संरक्षण कानूनों और पशु कल्याण के प्रति बढ़ती जागरूकता के कारण लोगों में एक क्रांतिकारी बदलाव आया है। आज के समय में लोग जीवित नागों को प्रताड़ित करने के बजाय प्रतीकात्मक रूप से मंदिरों में जाकर नाग देवता की मूर्तियों, चित्रों या कलाकृतियों की पूजा करते हैं तथा अधोलिखित प्रचलित मन्त्रों का पाठ करते हैं—

अनन्तं वासुकिं शेषं पद्मनाभं च कम्बलम्।
शङ्खपालं धृतराष्ट्रं तक्षकं कालियं तथा॥
एतानि नव नामानि नागानां च महात्मनाम्।
सायङ्काले पठेन्नित्यं प्रात:काले विशेषत:।
तस्मै विषभयं नास्ति सर्वत्र विजयी भवेत्॥

"नागपञ्चमी का यह पावन पर्व इस अकाट्य और शाश्वत सत्य को स्थापित करता है कि हमारी संस्कृति डराकर या नष्ट करके नहीं, अपितु कृतज्ञता ज्ञापित करके और सह-अस्तित्व के साथ जीना सिखाती है"। जिन जीवों से मनुष्य को सबसे अधिक शारीरिक भय हो सकता था, हमारी संस्कृति ने उन्हें आतंक का पर्याय मानने के बजाय पूज्य मानकर उनके संरक्षण का अनूठा और मानवीय मार्ग प्रशस्त किया।

यह पर्व इतिहास, पुराण, अध्यात्म और पर्यावरण का एक ऐसा त्रिवेणी संगम है, जो आज के कंक्रीट के जंगलों और मशीनी युग में और अधिक प्रासंगिक हो गया है। आज जब प्रकृति अपने संतुलन के लिए संघर्ष कर रही है ऐसे समय में नागपञ्चमी का यह संदेश हमें यह संकल्प लेने की प्रेरणा देता है कि हम केवल मनुष्यों का ही नहीं अपितु इस धरा पर रहने वाले हर छोटे-बड़े जीव के जीवन और अधिकारों का सम्मान करें। नागपञ्चमी के सांस्कृतिक दर्शन को एक व्यापक वैदिक भावना से जोड़ने के लिए हमें वैदिक दृष्टि का आश्रय लेना ही पड़ेगा जिसमें सम्पूर्ण विश्व का कल्याण निहित है। अन्तमें हम प्रार्थना करते हैं—

द्यौ: शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति:
पृथिवी शान्तिराप: शान्तिरोषधय: शान्ति:।
वनस्पतय: शान्तिर्विश्वेदेवा: शान्तिर्ब्रह्म शान्ति:
सर्वं शान्ति: शान्तिरेव शान्ति: सा मा शान्तिरेधि॥

त्यागपूर्ण कर्म और श्रेय की प्रेरणा ईशावास्योपनिषद्

डॉ. अजय कुमार भारद्वाज
व्याकरणाचार्य

उपनिषद् भारतीय ज्ञानपरम्परा के वे दिव्य चक्षु हैं, जिनके माध्यम से मनुष्य बाह्य जगत् से आगे बढ़कर अपने अन्त:करण में निहित ज्ञान, चेतना और सत्य का साक्षात्कार करता है। वे केवल दार्शनिक ग्रन्थ नहीं, अपितु जीवन को देखने की एक उदात्त दृष्टि प्रदान करने वाले ज्ञानस्रोत हैं। परम्परा में प्रसिद्ध १०८ उपनिषदों की सूची में मुक्तिकोपनिषद् के क्रम के अनुसार ईशावास्योपनिषद् का प्रथम स्थान माना गया है। आकार में अत्यन्त लघु होते हुए भी यह उपनिषद् जीवन, कर्म, त्याग, आत्मज्ञान और ब्रह्मदर्शन का अत्यन्त गम्भीर एवं व्यापक दर्शन प्रस्तुत करता है। ईशावास्योपनिषद् का प्रारम्भ ही मनुष्य के जीवन की मूल दृष्टि निर्धारित करता है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत् में जो कुछ भी चर-अचर है, वह ईश्वर से आवृत है। अत: त्यागभाव से उसका उपभोग करो और किसी के धन के प्रति लोभ मत करो। यह मन्त्र मनुष्य को स्वामित्व के अहंकार से मुक्त होकर अनासक्त भाव से जीवन जीने की प्रेरणा देता है। वस्तुओं का त्याग मात्र ही त्याग नहीं है; वस्तुओं के प्रति अनावश्यक आसक्ति, लोभ और अहंकार का त्याग ही वास्तविक त्याग की दिशा है। मनुष्य अपने कर्मों से अपने जीवन का निर्माण करता है। शुभ कर्म उसके व्यक्तित्व को उन्नत करते हैं, जबकि अशुभ कर्म उसे अधोगति की ओर ले जाते हैं। इसी कर्मप्रधान जीवन-दृष्टि को ईशावास्योपनिषद् स्पष्ट करता है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

अर्थात् मनुष्य को इस संसार में कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार कर्म करते हुए जीने पर कर्म मनुष्य को बाँधता नहीं है। यहाँ कर्म से पलायन का नहीं, अपितु अनासक्त होकर कर्तव्य-कर्म करने का उपदेश है। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के दु:खों का अनुभव करता है। भारतीय दर्शन में सामान्यत: दु:खों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

आध्यात्मिक दु:ख वे हैं जो स्वयं के शरीर और मन से सम्बन्धित होते हैं। शारीरिक स्तर पर वात, पित्त और कफ के असन्तुलन से उत्पन्न रोग तथा मानसिक स्तर पर चिन्ता, शोक, वियोग, भय आदि इसके अन्तर्गत माने जाते हैं।

आधिभौतिक दु:ख अन्य प्राणियों अथवा बाह्य भौतिक कारणों से उत्पन्न होते हैं। जैसे किसी जीव-जंतु से होने वाली पीड़ा, प्राकृतिक वस्तुओं अथवा अन्य प्राणियों से प्राप्त कष्ट आदि।

आधिदैविक दु:ख वे हैं जिनका सम्बन्ध दैविक अथवा प्राकृतिक शक्तियों से माना जाता है; जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अत्यधिक ताप, प्राकृतिक आपदाएँ आदि।

इन दु:खों से ऊपर उठने के लिए भारतीय मनीषा ने केवल बाहरी परिस्थितियों को बदलने पर बल नहीं दिया, अपितु मनुष्य के अन्त:करण के परिष्कार को अधिक महत्त्व दिया। यही कारण है कि उपनिषद् बाह्य त्याग से अधिक आन्तरिक आसक्ति के त्याग की ओर संकेत करते हैं।

त्याग का व्यापक अर्थ है काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और अहंकार जैसी अन्त:करण की विकृतियों का परित्याग। यदि मनुष्य छोटी-छोटी आसक्तियों और व्यसनों तक से स्वयं

को मुक्त नहीं कर पाता, तो केवल बाह्य रूप से त्याग का प्रदर्शन उसके जीवन को वास्तविक रूप से परिवर्तित नहीं कर सकता। अत: शास्त्र बार-बार संयम, मर्यादा और आत्मनियन्त्रण का उपदेश देते हैं।

आसक्ति ही बन्धन का प्रमुख कारण है और बन्धन मनुष्य के पतन का कारण बन सकता है। इसलिए जीवन में कर्म आवश्यक है, किन्तु कर्म के फल के प्रति अनावश्यक आसक्ति नहीं। बुद्धि के साथ विवेक का होना भी अत्यन्त आवश्यक है। बुद्धि मनुष्य को विचार करने की क्षमता देती है, जबकि विवेक उसे उचित और अनुचित, श्रेय और प्रेय तथा सत्य और असत्य के बीच भेद करने की शक्ति प्रदान करता है।

ईशावास्योपनिषद् का आत्मदर्शन इसी विवेक को चरम व्यापकता प्रदान करता है। जब साधक समस्त प्राणियों में एक ही परमात्मतत्त्व का दर्शन करने लगता है, तब उसके भीतर भेद, द्वेष, मोह और अहंकार का क्षय होने लगता है। उपनिषद् का प्रसिद्ध मन्त्र इस अनुभूति को अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त करता है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

अर्थात् जो पुरुष समस्त प्राणियों को अपने आत्मस्वरूप में और अपने आत्मतत्त्व को समस्त प्राणियों में देखता है, वह किसी से द्वेष या घृणा नहीं करता। इसके आगे उपनिषद् में कहा है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत:।
तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:॥

जब ज्ञानी पुरुष एकत्व का दर्शन करता है और उसके लिए सभी प्राणी आत्मस्वरूप ही हो जाते हैं, तब उसके लिए मोह और शोक का स्थान कहाँ रह जाता है? यही वह अवस्था है जहाँ आत्मज्ञान केवल बौद्धिक जानकारी न रहकर जीवनानुभूति बन जाता है। साधक जब इस अवस्था की ओर अग्रसर होता है, तब वह स्वयं को कर्मों का अहंकारी कर्ता न मानकर परमात्मा की व्यापक सत्ता का एक निमित्त समझने लगता है। वह अपने ज्ञान, तप, साधना अथवा उपलब्धियों के प्रति भी अहंकार नहीं करता। क्योंकि साधना में उत्पन्न अहंकार भी साधक के आध्यात्मिक विकास में बाधक हो सकता है। वास्तविक साधक अपने आत्मपरिष्कार के साथ-साथ समष्टि के कल्याण की भावना से प्रेरित होता है। ईशावास्योपनिषद् का अन्तिम मन्त्र इसी कल्याणकारी जीवन-दृष्टि को प्रस्तुत करता है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥

हे अग्ने! हे परम दिव्य शक्ति! हमें कल्याणकारी मार्ग से ले चलो। हमारे समस्त कर्ममार्गों को जानने वाले प्रभो! हमारे कुटिल पापों को हमसे दूर करो। हम आपके प्रति बार-बार नमस्कार करते हैं। यह प्रार्थना केवल व्यक्तिगत मुक्ति की आकांक्षा नहीं है; इसमें कल्याणकारी मार्ग पर चलने, दोषों का परित्याग करने और परम सत्य की ओर अग्रसर होने की व्यापक आकांक्षा निहित है इसीलिए हमें ऋषियों, महर्षियों, संतों, महात्माओं और गुरुजनों की ज्ञानपरम्परा का आश्रय ग्रहण करते हुए अपने अन्त:करण को परिष्कृत करना चाहिए। बाहरी उपलब्धियों के साथ-साथ भीतर स्थित ज्ञान के प्रकाश को पहचानना आवश्यक है। मनुष्य का वास्तविक उत्कर्ष तभी सम्भव है, जब उसकी बुद्धि विवेक से युक्त हो, कर्म अनासक्ति से प्रेरित हों, जीवन संयम से संचालित हो और दृष्टि समस्त प्राणियों के प्रति कल्याणमयी हो।

ईशावास्योपनिषद् का प्रेरणा सन्देश यही है कि जगत् में रहते हुए जगत् से आसक्त न होना, कर्म करते हुए कर्मबन्धन से मुक्त रहना, ज्ञान प्राप्त करते हुए अहंकार से दूर रहना और आत्मकल्याण के साथ समस्त प्राणियों के कल्याण का संकल्प धारण करना ही जीवन की श्रेष्ठ दिशा है। जब मनुष्य यह अनुभव करने लगता है कि "ईशावास्यमिदं सर्वम्" तब उसके लिए संसार केवल भोग की वस्तु नहीं रह जाता, अपितु ईश्वरमय सृष्टि बन जाता है। यही दृष्टि त्याग को सार्थक करती है, कर्म को पवित्र बनाती है और जीवन को लोककल्याण की दिशा में अग्रसर करती है।

mdpatrika4@gmail.com

अटल निष्ठा का सामर्थ्य

स्वामी रामानुज दास
कथा व्यास, प्रवचनकर्ता

ध्रुव निष्ठा चाहे सृष्टि-संचालन के क्षेत्र में हो अथवा किसी व्यवहार, कर्तव्य या सम्बन्ध में उत्कृष्टता और स्थायी उन्नति का आधार निष्ठा ही है। निष्ठा के अभाव में किसी भी व्यवस्था, सम्बन्ध अथवा साधना का स्थायित्व कठिन हो जाता है। मनुष्य जब अपने निर्धारित कर्तव्य और ध्येय के प्रति दृढ़ निष्ठा रखता है, तभी वह अपने जीवन को सार्थक दिशा प्रदान कर सकता है।

सृष्टि-विस्तार की भारतीय अवधारणा में ब्रह्मा के पश्चात् प्रकट होने वाली प्रथम नारी के रूप में माता शतरूपा का उल्लेख मिलता है। 'शतरूपा' नाम अपने भीतर विविधता, सृजनशीलता और परिस्थितियों के अनुरूप रूपान्तरण की सामर्थ्य का संकेत करता है। सृष्टि के विस्तार और जीवन-व्यवस्था के संतुलन में उनकी भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी गई है। जब जीव अपने इष्ट की आराधना करता है, तब उसकी साधना को स्थायित्व प्रदान करने के लिए निष्ठा की आवश्यकता होती है। केवल आराधना पर्याप्त नहीं; उसके साथ दृढ़ संकल्प, संयम, कर्तव्यबोध और निरन्तर साधना भी अपेक्षित है। यही निष्ठा साधक को उसके लक्ष्य के समीप ले जाती है।

जब-जब जीव अपने नियत कर्तव्य-पथ को छोड़कर केवल विषयासक्ति, स्वार्थ और अनियंत्रित प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है, तब उसके पतन की सम्भावना बढ़ जाती है। इसके विपरीत, जब वह अपने जीवन के पुरुषार्थ को पहचानकर कर्तव्यभाव के साथ कर्म करता है, तब उसका जीवन आध्यात्मिक उन्नति की ओर अग्रसर होता है।

अत: जीव को परमात्मा की समीपता प्राप्त करने के लिए ऐसी नीति का अनुसरण करना चाहिए, जो उसे ध्रुव-ध्यान, आत्मचिन्तन और कर्तव्यनिष्ठा की ओर ले जाए। यही नीति ध्रुव निष्ठा को जन्म देती है। जब निष्ठा साधना के साथ संयुक्त होकर जीवन में दृढ़ होती है, तब जीव अपने सामान्य अस्तित्व से ऊपर उठकर उत्तम पुरुषार्थ और उच्चतर जीवन-मूल्यों की ओर अग्रसर होता है। निष्ठा की यह दृढ़ता अन्तत: साधक को परमात्मतत्त्व की ओर उन्मुख करती है। वह अपने अहंकार, आसक्ति और विकारों से क्रमश: मुक्त होकर भगवद्भाव को प्राप्त करने की दिशा में बढ़ता है। इस अवस्था में शरणागति, साधना और आत्मसंयम उसके जीवन के प्रमुख आधार बन जाते हैं।

माता के वात्सल्य, गुरु के मार्गदर्शन और भगवान् की शरणागति को साधना का आधार बनाकर जीव अपनी निष्ठा को निरन्तर सुदृढ़ करता है। दृढ़ निष्ठा और सतत् साधना के द्वारा साधक अपने जीवन को ध्रुव के समान अचल, स्थिर और भगवदाकार बनाने का प्रयास करता है। यही निष्ठा अन्तत: जीवन के उद्धार और आत्मोन्नति का साधन बनती है।

विकसित भारत का भविष्य
Gen-Z : नई पीढ़ी

संदीप तिवारी 'कृपके'
सुधी संस्कृत अध्यापक

आज का समय तकनीक, शिक्षा, रोजगार, सामाजिक जीवन और संचार के क्षेत्र में जिस गति से परिवर्तन हो रहा है, उसने नई पीढ़ी की सोच, व्यवहार और जीवनशैली को गहराई से प्रभावित किया है। इसी नई पीढ़ी को सामान्यत: Gen-Z अर्थात् Generation Z कहा जाता है। सामान्यत: 1997 से 2012 के बीच जन्मी पीढ़ी को इस नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह वह पीढ़ी है जिसने इंटरनेट, स्मार्टफोन, सोशल मीडिया और डिजिटल तकनीक को अपने जीवन का स्वाभाविक हिस्सा बनते हुए देखा है। लेकिन प्रश्न यह है कि भारत के भविष्य में Gen-Z की भूमिका क्यों महत्त्वपूर्ण है? क्या केवल इसलिए कि यह पीढ़ी तकनीक के साथ सहज है, या इसलिए भी कि इसमें बदलती परिस्थितियों के अनुरूप नए विचारों, नवाचार और सामाजिक परिवर्तन को दिशा देने की क्षमता है?

किसी भी राष्ट्र का भविष्य उसकी युवा पीढ़ी की ऊर्जा, प्रतिभा और दृष्टि पर निर्भर करता है। युवा केवल जनसंख्या का एक हिस्सा नहीं होते, अपितु वे राष्ट्र की रचनात्मकता, नवाचार और परिवर्तन की प्रमुख शक्ति होते हैं। Gen-Z की एक विशेषता यह है कि यह परम्परागत धारणाओं को समझते हुए भी प्रश्न पूछने, नए विकल्प खोजने और परिवर्तन को स्वीकार करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक तत्पर दिखाई देती है। आज का युवा केवल नौकरी प्राप्त करने तक सीमित नहीं रहना चाहता। वह उद्यमिता, स्टार्टअप, डिजिटल व्यवसाय, स्वतंत्र कार्य, रचनात्मक उद्योग, अनुसंधान, नवाचार और सामाजिक उद्यम जैसे विविध क्षेत्रों में अपनी संभावनाएँ तलाश रहा है। इसलिए भारत को ऐसी युवा पीढ़ी की आवश्यकता है, जो नई सोच और तकनीकी दक्षता के साथ सामाजिक उत्तरदायित्व को भी समझे।

Gen-Z ने शिक्षा, व्यवसाय, मनोरंजन, संचार, पत्रकारिता, तकनीक और रोजगार सहित अनेक क्षेत्रों में परिवर्तन को गति दी है। ज्ञान प्राप्त करने के लिए केवल पुस्तक और पारम्परिक कक्षा ही एकमात्र माध्यम नहीं रह गए हैं। ऑनलाइन पाठ्यक्रम, डिजिटल पुस्तकालय, शैक्षिक वीडियो, पॉडकास्ट, आभासी प्रयोगशालाएँ और कृत्रिम बुद्धिमत्ता आधारित साधनों ने सीखने की प्रक्रिया को अधिक व्यापक बनाया है।

व्यवसाय के क्षेत्र में भी डिजिटल माध्यमों ने युवाओं के लिए नए अवसर खोले हैं। सोशल मीडिया और ई-कॉमर्स के माध्यम से छोटे व्यवसाय अपने उत्पादों और सेवाओं को व्यापक बाजार तक पहुँचा सकते हैं। इसी प्रकार रोजगार की अवधारणा भी बदल रही है। युवा पारम्परिक सरकारी अथवा निजी नौकरी के साथ-साथ अपने कौशल के आधार पर नए व्यवसाय और रोजगार के अवसर उत्पन्न कर सकता है। यद्यपि तकनीक अवसरों का विस्तार करती है, तथापि सफलता केवल तकनीक तक पहुँच से सुनिश्चित नहीं होती। कौशल, अनुशासन, निरन्तर सीखने की प्रवृत्ति, संवाद-कौशल, समस्या-समाधान की क्षमता और नैतिक दृष्टि भी उतनी ही आवश्यक हैं।

यह कहना उचित होगा कि Gen-Z सामाजिक और तकनीकी परिवर्तन की एक महत्त्वपूर्ण वाहक है, लेकिन सम्पूर्ण परिवर्तन का श्रेय केवल इसी पीढ़ी को देना उचित नहीं होगा। परिवार, विद्यालय, शिक्षक, विश्वविद्यालय, तकनीक, आर्थिक परिस्थितियाँ, वैश्विक घटनाएँ और मीडिया सभी मिलकर युवा पीढ़ी की सोच और व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं।

इसीलिए Gen-Z को केवल सोशल मीडिया की उपज मानना भी उचित नहीं है। सोशल मीडिया ने निश्चित रूप से

उसकी अभिव्यक्ति, संवाद और सूचना-प्राप्ति के तरीकों को बदला है, लेकिन उसके चरित्र और दृष्टिकोण के निर्माण में परिवार, शिक्षा और सामाजिक परिवेश की भूमिका आज भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

Gen-Z के निर्माण में शिक्षा और शिक्षक की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आज शिक्षक की भूमिका केवल पाठ्यपुस्तक का ज्ञान देने तक सीमित नहीं रह सकती। शिक्षक को विद्यार्थियों में आलोचनात्मक चिन्तन, रचनात्मकता, नैतिकता, संवेदनशीलता, सहयोग और उत्तरदायित्व जैसे गुणों का विकास करना होगा। नई पीढ़ी को यह समझाना आवश्यक है कि तकनीक केवल मनोरंजन का साधन नहीं है। इसका उपयोग ज्ञानार्जन, शोध, कौशल-विकास, नवाचार और राष्ट्र-निर्माण के लिए भी किया जा सकता है।

विद्यालयों और उच्च शिक्षण संस्थानों को विद्यार्थियों को केवल परीक्षा के लिए तैयार करने के बजाय जीवन की वास्तविक चुनौतियों के लिए तैयार करना होगा। उन्हें प्रश्न पूछने, अपनी बात रखने, असफलताओं से सीखने, सहयोग से कार्य करने और समस्याओं के रचनात्मक समाधान खोजने के अवसर मिलने चाहिए।

आधुनिकता का अर्थ अपनी संस्कृति को भूल जाना नहीं है। भारत की शक्ति केवल उसकी आर्थिक और तकनीकी क्षमता में नहीं, अपितु उसकी बहुविध सांस्कृतिक विरासत, ज्ञानपरम्परा और जीवन-मूल्यों में भी निहित है। इसलिए Gen-Z के सामने चुनौती आधुनिकता और परम्परा में से किसी एक को चुनने की नहीं, अपितु दोनों के सार्थक समन्वय की है।

भारतीय संस्कृति परिवार, सह-अस्तित्व, प्रकृति के प्रति सम्मान, कर्तव्य, अनुशासन, करुणा और "वसुधैव कुटुम्बकम्" जैसे मूल्यों की शिक्षा देती है। योग, आयुर्वेद, भारतीय दर्शन, कला, साहित्य और लोकपरम्पराएँ भी हमारी सांस्कृतिक चेतना के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। यदि Gen-Z इन जीवन-मूल्यों को आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तकनीकी दक्षता के साथ जोड़ सके, तो वह भारत के विकास को विशिष्ट दिशा दे सकती है। हमें ऐसी Gen-Z चाहिए—

जो कृत्रिम बुद्धिमत्ता को समझे, लेकिन मानवीय संवेदनाओं को न भूले;

जो वैश्विक नागरिक बने, लेकिन अपनी जड़ों से जुड़ी रहे;

जो आधुनिक हो, लेकिन अपनी संस्कृति पर गर्व भी करे और जो अधिकारों के साथ अपने कर्तव्यों को भी समझे।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता ने शिक्षा, चिकित्सा, कृषि, उद्योग, अनुसंधान, प्रशासन और संचार जैसे क्षेत्रों में नई संभावनाएँ उत्पन्न की हैं। Gen-Z इस परिवर्तन की अग्रिम पंक्ति में है। वह AI आधारित साधनों का उपयोग सीखने, रचनात्मक कार्य और

समस्या-समाधान में कर सकती है किन्तु तकनीक के बढ़ते प्रभाव के साथ मानवीय विवेक की आवश्यकता भी बढ़ती है। AI से प्राप्त प्रत्येक सूचना को सत्य मान लेना उचित नहीं है। सूचना की विश्वसनीयता जाँचना, स्रोतों का परीक्षण करना, मौलिक चिन्तन करना और तकनीक के नैतिक उपयोग को समझना आवश्यक है।

भविष्य की शिक्षा का लक्ष्य केवल यह नहीं होना चाहिए कि विद्यार्थी AI का उपयोग करना सीखें, अपितु यह भी होना चाहिए कि वे यह समझें कि AI का उपयोग कब, क्यों और किस नैतिक सीमा तक किया जाना चाहिए।

भारत को 2047 तक विकसित राष्ट्र बनाने की राष्ट्रीय आकांक्षा केवल सरकार की जिम्मेदारी नहीं है। इसमें प्रत्येक नागरिक और विशेष रूप से युवा पीढ़ी की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। विकसित भारत का अर्थ केवल आर्थिक समृद्धि नहीं, अपितु गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, सुलभ स्वास्थ्य, वैज्ञानिक प्रगति, तकनीकी आत्मनिर्भरता, रोजगार, पर्यावरण-संतुलन, सामाजिक न्याय और नागरिक उत्तरदायित्व से भी है। Gen-Z इस परिवर्तन में अनेक स्तरों पर योगदान दे सकती है। विज्ञान और तकनीक, कृषि, चिकित्सा, शिक्षा, रक्षा, पर्यावरण, उद्योग, डिजिटल सेवाएँ, अनुसंधान और उद्यमिता जैसे क्षेत्रों में युवा नए समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं।

यदि युवा अपनी ऊर्जा और प्रतिभा को व्यक्तिगत सफलता के साथ-साथ सामाजिक हित और राष्ट्र-निर्माण से जोड़ें, तो विकसित भारत@2047 की यात्रा को नई गति मिल सकती है।

Gen-Z के जीवन में सोशल मीडिया की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके माध्यम से युवा अपने विचारों, प्रतिभा और रचनात्मकता को व्यापक समाज तक पहुँचा सकते हैं। शिक्षा, सामाजिक जागरूकता, जनभागीदारी और रचनात्मक अभिव्यक्ति के लिए यह प्रभावी माध्यम बन चुका है किन्तु इसका दूसरा पक्ष भी है। गलत सूचना, अफवाह, साइबर बुलिंग, अत्यधिक स्क्रीन-निर्भरता, दिखावे की संस्कृति और डिजिटल दबाव जैसी चुनौतियाँ भी सामने आती हैं इसलिए आवश्यकता सोशल मीडिया से पूर्ण दूरी बनाने की नहीं, अपितु उसके जिम्मेदार, संयमित और विवेकपूर्ण उपयोग की है। युवा को यह समझना होगा कि डिजिटल माध्यम पर उपलब्ध प्रत्येक सूचना सत्य नहीं होती। किसी भी सूचना को स्वीकार अथवा साझा करने से पहले उसके स्रोत और विश्वसनीयता की जाँच आवश्यक है। डिजिटल साक्षरता आज केवल तकनीकी कौशल नहीं, अपितु नागरिक उत्तरदायित्व का भी हिस्सा बन चुकी है।

नई पीढ़ी से संवाद करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि आने वाले भारत के निर्माण में उसकी निर्णायक भूमिका होगी। नीति-निर्माताओं, शिक्षकों, अभिभावकों और सामाजिक संगठनों को युवाओं की समस्याओं, आकांक्षाओं और विचारों को समझने के लिए उनसे निरन्तर संवाद स्थापित करना होगा।

डिजिटल माध्यमों ने इस संवाद को अधिक व्यापक और प्रत्यक्ष बनाने की सम्भावना उत्पन्न की है। लेकिन संवाद केवल युवाओं तक संदेश पहुँचाने का माध्यम नहीं होना चाहिए। युवाओं की बात सुनना, उनके प्रश्नों को समझना और उनके सुझावों को महत्त्व देना भी उतना ही आवश्यक है। युवाओं को केवल भविष्य के नागरिक के रूप में नहीं, अपितु वर्तमान के सक्रिय सहभागी के रूप में देखना होगा।

Gen-Z के सामने अवसरों की कमी नहीं है; वास्तविक चुनौती इन अवसरों का विवेकपूर्ण उपयोग करने की है। सूचना की अधिकता के युग में सही ज्ञान का चयन, तकनीक की गति के बीच मानवीय संवेदना का संरक्षण, वैश्विक संस्कृति के बीच अपनी सांस्कृतिक पहचान की रक्षा और व्यक्तिगत सफलता के साथ सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह ये सभी इस पीढ़ी के सामने महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं इसलिए हमें केवल तकनीकी रूप से सक्षम युवा नहीं चाहिए, अपितु ऐसे युवा चाहिए जो तकनीक के साथ विवेक, स्वतंत्रता के साथ अनुशासन, अधिकार के साथ कर्तव्य और आधुनिकता के साथ संस्कृति का संतुलन स्थापित कर सकें।

Gen-Z केवल एक पीढ़ी का नाम नहीं है; यह बदलती हुई सामाजिक, तकनीकी और आर्थिक परिस्थितियों का प्रतिनिधित्व करती है। इसके सामने अभूतपूर्व अवसर हैं और उतनी ही महत्त्वपूर्ण चुनौतियाँ भी। हमें ऐसी Gen-Z चाहिए जो तकनीकी रूप से सक्षम, बौद्धिक रूप से जिज्ञासु, नैतिक रूप से सजग, सामाजिक रूप से संवेदनशील, सांस्कृतिक रूप से जागरूक और राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी हो।

भारत का भविष्य केवल इस बात पर निर्भर नहीं करता कि हमारी युवा पीढ़ी कितनी आधुनिक है, अपितु इस बात पर भी निर्भर करता है कि वह अपनी आधुनिकता को ज्ञान, संस्कार, संवेदनशीलता, विज्ञान और राष्ट्र-निर्माण से किस प्रकार जोड़ती है। यदि Gen-Z अपनी डिजिटल शक्ति को भारतीय मूल्यों, वैज्ञानिक दृष्टिकोण और राष्ट्रहित के साथ जोड़ सके तो यही पीढ़ी विकसित भारत@2047 की सबसे सशक्त परिवर्तनकारी शक्तियों में से एक बन सकती है।

mdpatrika4@gmail.com

सिनेमा से सोशल मीडिया तक : हमारी सामाजिक संस्कृति

विष्णु प्रसाद द्विवेदी
अनुसन्धाता वैयाकरण

सिनेमा और सोशल मीडिया समकालीन समाज के सबसे मुखर दर्पण, मार्गदर्शक और नियामक हैं। बीसवीं शताब्दी में जहाँ सिनेमा ने समाज को कथानकों, आदर्शों और दृश्यों के माध्यम से प्रभावित करना प्रारंभ किया था, वहीं इक्कीसवीं शताब्दी के डिजिटल युग में सोशल मीडिया (जैसे इंस्टाग्राम, यूट्यूब, एक्स) ने प्रत्येक नागरिक को एक रचनाकार, समीक्षक और प्रसारक बना दिया है।ये दोनों सशक्त माध्यम हमारी सदियों पुरानी सांस्कृतिक धरोहर, पारंपरिक पारिवारिक ढांचे और शाश्वत नैतिक मूल्यों की आधारशिला को अत्यंत द्रुत गति से परिवर्तित कर रहे हैं। दृश्य-श्रव्य (Audio-Visual) माध्यमों की यह जुगलबंदी हमारे सामूहिक अवचेतन को इस तरह प्रभावित कर रही है कि समाज अनजाने में ही इनके द्वारा निर्मित आभासी आख्यानों (Virtual Narratives) को अपनी वास्तविक जीवनशैली मान चुका है।

अतीत में जो लोकगीत, संगीत, नृत्य (जैसे पंजाब का

भांगड़ा, गुजरात का गरबा, असम का बिहू या ओडिशा का छाऊ) अथवा क्षेत्रीय उत्सव भौगोलिक सीमाओं तक सीमित थे, आज 'रील्स' और 'शॉर्ट्स' के माध्यम से वैश्विक पटल पर आकर्षण का केंद्र बन चुके हैं। इससे सांस्कृतिक विविधता का संरक्षण हुआ है।

इंटरनेट के लोकतांत्रीकरण और सिनेमा के व्यापक प्रसार के कारण आज भारत के किसी एक सुदूर कोने की अनूठी परंपरा पल भर में संपूर्ण राष्ट्र की चेतना का हिस्सा बन जाती है। यह त्वरित सांस्कृतिक आदान-प्रदान राष्ट्रीय एकता के धागों को अधिक सुदृढ़ और प्रगाढ़ बना रहा है।

संवेदनशील सिनेमा, वेब सीरीज और सोशल मीडिया अभियानों ने जातिगत विसंगतियों, लिंगभेद, महिला सशक्तिकरण, पर्यावरण और मानसिक स्वास्थ्य जैसे जटिल एवं संवेदनशील विषयों पर समाज को न केवल झकझोरा है, अपितु एक स्वस्थ वैचारिक जागृति और विमर्श को भी जन्म दिया है।

मुख्यधारा के मीडिया के एकाधिकार को समाप्त कर, इन डिजिटल मंचों ने सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों की उपेक्षित और छिपी हुई प्रतिभाओं को अपनी कला और संस्कृति को बिना किसी बिचौलिए के सीधे वैश्विक दर्शकों के सामने प्रदर्शित करने का एक निष्पक्ष मंच प्रदान किया है।

सोशल मीडिया पर कृत्रिम सुख, विलासिता और 'परफेक्ट लाइफ' प्रदर्शित करने की अंधी प्रतिस्पर्धा ने युवाओं में हीनभावना, तुलनात्मक व्यवहार तथा मानसिक अवसाद को तीव्र किया है। वास्तविक आत्मीय संबंधों का स्थान अब सतही 'लाइक्स', 'व्यूज' और 'कमेंट्स' की भूख ने ले लिया है।

आधुनिक सिनेमा और इंटरनेट सामग्री में बहुधा अत्यधिक हिंसा, अश्लीलता, उपभोक्तावाद तथा अति-आधुनिकता को इस प्रकार महिमामंडित (Glamorize) किया जाता है, जिससे हमारी संयुक्त परिवार प्रणाली, परस्पर सहयोग की भावना और बड़ों के प्रति आदर जैसे मूलभूत मूल्य निरंतर शिथिल पड़ रहे हैं।

वैश्विक प्रवृत्तियों और एल्गोरिदम (Algorithm) के दबाव में आकर स्थानीय संस्कृतियाँ अपनी विशिष्टता खो रही हैं। हर क्षेत्र का युवा एक ही जैसी वेशभूषा, खान-पान और जीवनशैली अपनाने लगा है, जिससे भारत की बहुसांस्कृतिक पहचान पर संकट मंडरा रहा है।

इस तकनीकी और दृश्य क्रांति की सबसे बड़ी गाज हमारी समृद्ध मूल भाषाओं और क्षेत्रीय बोलियों पर गिरी है। अभिव्यक्ति के नाम पर आज एक हाइब्रिड भाषा 'हिंग्लिश' अथवा इंटरनेट स्लैंग्स (जैसे- LOL, POV, FOMO, GOAT) का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है।इस भाषाई संकरण के कारण नई पीढ़ी अपनी समृद्ध साहित्यिक विरासत, व्याकरणिक शुद्धता और अपनी मातृभाषा की मिठास से विमुख हो रही है। यदि भाषा का यह मौलिक रूप निरंतर संकुचित होता गया, तो हम अपनी संस्कृति का एक बहुत बड़ा हिस्सा खो देंगे।

संक्षेप में कहें तो, सिनेमा और सोशल मीडिया एक दुधारी तलवार की भांति हैं। ये जहाँ हमारी संस्कृति को वैश्विक पहचान दिलाने और रूढ़ियों को तोड़ने का अभूतपूर्व माध्यम हैं, वहीं अनियंत्रित और विवेकहीन होने पर हमारी सांस्कृतिक जड़ों को खोखला करने का सामर्थ्य भी रखते हैं।तकनीक को अपनी पहचान पर हावी होने देना आत्मघाती सिद्ध हो सकता है। अत: एक प्रबुद्ध और विवेकशील समाज के रूप में यह हमारा परम दायित्व है कि हम इन आधुनिक माध्यमों का उपयोग अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को विलीन करने के लिए नहीं, अपितु उसे अधिक समृद्ध, संरक्षित और दीर्घायु बनाने के लिए करें। चकाचौंध के इस युग में अपनी जड़ों से जुड़े रहना ही हमारी वास्तविक प्रगति होगी।

mdpatrika4@gmail.com

सदस्यता आवेदन प्रपत्र

1. आवेदक का नाम: ________________________________ 2. पिता/पति का नाम: _______________

3. जन्मतिथि (वैकल्पिक): ____/_____/______ 4. व्यवसाय: ____________________ 5. संस्था/संगठन का नाम (यदि हो): _________________________ 6. पूर्ण डाक पता: _________________________________

7. जिला: _____________ राज्य: _____________8. पिन कोड: ___________ 9. मोबाइल नंबर: _____________

10. ई-मेल: ______________________________

सदस्यता का प्रकार

1.	ऑनलाइन सदस्यता	नि:शुल्क	2.	वार्षिक सदस्यता	2100/-
3.	पञ्चवार्षिक सदस्यता	10000/-	4.	संस्थागत सदस्यता	100000/-

भुगतान का विवरण

भुगतान का माध्यम: नकद ☐ ऑनलाइन ☐ बैंक जमा ☐ अन्य ☐

राशि: ________________________

भुगतान/लेन-देन संख्या: ________________________________

भुगतान की तिथि: _____ / _____ / _______

पत्रिका प्राप्त करने का माध्यम

- डाक द्वारा ☐ ई-मेल (यदि उपलब्ध हो) ☐
- दोनों ☐

सुझाव एवं अभिमत

कृपया पत्रिका के संबंध में अपने महत्वपूर्ण सुझाव लिखें—

अंक संख्या
02
वर्ष 02

मार्गदर्शनम्
· पत्रिका ·
ज्ञान • संस्कृति • मूल्य • समाज

अगस्त 2026

स्वतंत्रता का संकल्प, कर्तव्य हमारा धर्म।

आइए, हम अपने देश, समाज और संस्कृति के प्रति समर्पित होकर एक सशक्त, समृद्ध और आत्मनिर्भर भारत के निर्माण में योगदान दें।

नागपंचमी

नाग देवता की पूजा से सर्पदोष नाश और संकटों से रक्षा का संकल्प करें।

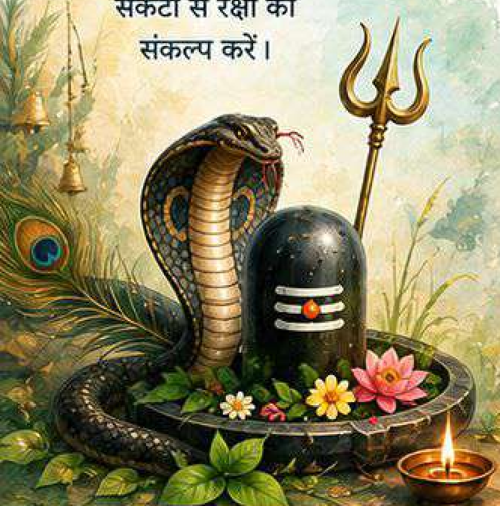

रक्षाबंधन

भाई-बहन के अटूट प्रेम, विश्वास और संरक्षण का पावन पर्व।

इस अंक में

शिक्षा विमर्श
नई शिक्षा नीति और भारतीय दृष्टि

संस्कृति सरिता
भारतीय संस्कृति की कालजयी धारा

प्रेरक प्रसंग
महापुरुषों के जीवन से सीखने योग्य बातें

समाज और सरोकार
समाज निर्माण में हमारी भूमिका

ज्ञान विज्ञान
विज्ञान, तकनीक और नवाचार की दुनिया

हमारा संकल्प

शिक्षा, संस्कार, संस्कृति, मूल्यें और समाज की उन्नति के लिए समर्पित लेखों के माध्यम से एक जागरूक, संवेदनशील और श्रेष्ठ समाज के निर्माण की ओर अग्रसर रहना।

नियमित पत्रिका प्राप्त करने के लिए QR कोड स्कैन करें और फार्म भरें।

संपर्क

कार्यालय
रामनगर, वाराणसी
उत्तर प्रदेश - 221008

ईमेल
mdpatrika4@gmail.com

वेबसाइट
www.margdarshanam.org

संपर्क सूत्र
+91 8299740897
+91 8076463253

फॉलो करें

आपके सुझाव हमारे लिए मूल्यवान हैं।